स्थित है। यदि इसके
ड़े तो उसे मन में ही

सन्देश प्राप्त हो रहे हैं,

ा सरल भाषा मे भावार्थ
भी आसान बन जाय ।
श्रम, समय और आर्थिक
से कम आर्थिक चिताओ
ी ही इस कार्य को सम्पन्न
योग देने को तत्पर हों—

लेखक को सूचित करने का कष्ट करें ।

● यह ग्रंथ प्रत्येक जैन के घर पहुंच जावे इसके लिये स्थानीय संस्थाओं एवं प्रतिष्ठित महानुभावों को व्यवस्था कर लेखक को सूचना देना पर्याप्त होगा ।

● यदि कोई दानवीर (एक या अनक) जैन समाज के पत्र - पत्रिकाओं के ग्राहको के लिये अपनी ओर से उपहार स्वरूप ग्रंथ को भेट करना चाहें तो आसानी से ग्रंथ गाँव २ पहुंच जावे ।जिनकी रुचि हो सूचना देने की कृपा करें । आप अपने यहाँ आयोजित उत्सवों में भी अतिथियों को यह ग्रंथ उपहार में दे सकते हैं ।

—प्रकाशक

समयसार-वैभव

卐

मूल प्रणेता :-

श्रीमद्भगवत्कुंदकुंदाचार्यः

लेखक व प्रकाशक :-

नाथूराम डोंगरीय जैन, न्यायतीर्थ

जैनधर्म प्रकाशन कार्यालय,

५/१, तम्बोली बाखल, इन्दौर-२ (म. प्र.)

द्वितीयावृत्ति
दीपावली २४९७
कार्तिक कृष्णा ३०-२०२७
२९, अक्टबर १९७०

मूल्य तीन रुपये
एक प्रति का रजिष्ट्री खर्च
१।।) रु. अलग
मनिआर्डर से भेजें।

मुद्रक : नई दुनिया प्रेस, केसरबाग रोड, इन्दौर-२.

धन्यवाद !

निम्न लिखित संस्थाओं एवं सज्जनों ने ग्रंथ प्रकाशन के पूर्व अग्रिम ग्राहक बन कर धर्म प्रभावनार्थ ग्रंथ का प्रसार करना स्वीकार किया, जिसके लिये हार्दिक धन्यवाद !

२०२) श्री फतेचद मूलचद पाटनी ट्रस्ट
२०१) श्री रतनलालजी काला पगड़ीवाला
१५१) श्री ला रघुनाथप्रसादजी अग्रवाल
१०१) श्री अशर्फीलालजी अशोककुमारजी
१०१) श्री मोहनलाल मनोहरलालजी
५१) श्री नानूरामजी हातोदवाला & Co
१०१) श्री रतनलालजी (बड़ोदियावाला)
१०१) श्रीमती जयतीबाई (फर्म शिखरचदजी नवीनचंदजी)
१७३) गुप्तनाम हस्ते श्री देवीलालजी
१०१) श्री लच्छीराम फूलचदजी
१०१) श्री डा शातिलालजी 'बालेन्दु'
१००) श्री झुन्नालालजी सा. जौहरी
५१) श्री इदौरीलालजी मानुकुमारजी
५१) श्री गीतमलालजी क्लाथ मर्चेन्ट
५१) श्री शकरलाल हुकमचंदजी काला
५१) श्री हजारीमलजी पाटनी छावनी
५१) श्री चन्दनलाल ब्रदर्स क्लाथ मार्केट
५१) श्री मागीलालजी सा. पाटनी
५१) श्री प्रकाश मेटल वर्क्स इन्दौर श्री चांदमलजी सुगनचन्द्रजी
१०१) श्री राधेश्यामजी रोशनलालजी
६१) श्री अमृतलालजी पतगया
६१) श्री कन्हैयालालजी (१ रीम कागज)
५१) श्री मागीलालजी सा डोसी छावनी
५१) श्री दुलीचन्द्रजी सेठी छोटा सराफा
५१) श्री सुवालाल पन्नालालजी गोधा
५१) श्री विमलचन्द फूलचन्दजी अजमेरा
५१) श्री डा निर्मलकुमारजी जायसवाल
५१) श्री ताराचंद शान्तिलालजी, अजमेर
५१) श्रीमती कस्तूरीबाई भेरूलालजी
५१) श्रीमती उमाबाई (श्री कस्तूरचन्दजी चौमूवाला)
५१) श्री जमनालाल जुगराजजी (आनन्दपुर कालू)
२५) श्री हिम्मतलालजी तलकचन्दजी
२५) इंदौर टेक्सटाइल सेंटर M.T.C.
२१) श्री मांगीलालजी बागड़िया
२१) श्री विमलचन्दजी सेठी बड़ा सराफा
२१) श्री माणिकचन्द माधवलालजी सेठी
५१) श्री पन्नालाल रतनलालजी काला ट्रस्ट

Hiralal Kashliwal

KALYAN BHAWAN
TUKOGANJ
INDORE

दि ७ अक्टूबर ७०

अपनी स्व पूज्य माँ सा० को श्रद्धाञ्जलि समर्पित करने हेतु इस अपूर्व ग्रथ का प्रथम संस्करण समाज की सेवा मे प्रस्तुत करने की पहल करते हुए मुझे अत्यत हर्ष का अनुभव हो रहा था। अभी-अभी यह जानकर और भी प्रसन्नता हुई कि डेढ़ मास के अन्दर ही दीपावली के शुभ अवसर पर इसका दूसरा संस्करण भी प्रकाशित होने जा रहा है। सचमुच ही यह एक अद्वितीय ग्रंथ है जो आधुनिक युग मे आत्म जिज्ञासुओं को राष्ट्रभाषा के माध्यम से पूज्य भगवान् कुन्द-कुन्द की अमर-वाणी का रसास्वादन करने में पर्याप्त सहायक सिद्ध होगा। इस दृष्टि से इसका अधिकाधिक प्रचार एवं प्रसार करना हम सब का ही परम कर्त्तव्य है।

मुझे पूर्ण आशा है कि इस उपयोगी रचना का सर्वत्र समादर होगा और इसके द्वारा जन-मानस में आध्यात्मिक रुचि एव निष्ठा में वृद्धि होने के साथ ही अध्यात्म संबंधी अनेक भ्रमो का उन्मूलन होकर जीवन में एक नवीन चेतना का उदय होगा।

[रावराजा, रायबहादुर, राज्यरत्न, दानवीर, श्रीमंतसेठ]

Raj Kumar Singh
M.A., LL B., F.R.E.S., F.R.G.S

INDRA BHAWAN
TUKOGANJ
INDORE-1 (M.P.)

दि १२, सितम्बर, १९७०

समयसार-वैभव ग्रंथ मे श्री पंडित नाथूरामजी डोंगरीय ने समयसार ग्रंथ के गूढ अर्थ को बहुत ही सुन्दर और सरल ढंगसे निश्चय और व्यवहार का भली भाँति समन्वय करते हुए समझाया है। ऐसे महान् ग्रंथ के गूढार्थ को समझाते हुए सुन्दर पद्य रचना करना सचमुच ही प्रशंसनीय है!

मुझे आशा है कि इस ग्रंथ को पढकर अनेक जिज्ञासु धर्म लाभ प्राप्त करेंगे।

राजकुमारसिंह
[श्रीमन्त सेठ, दानवीर, रायबहादुर, राज्यरत्न]

प्रस्तावना

मैंने पं० नाथूरामजी डोंगरीय, न्यायतीर्थ इन्दौर रचित "समयसार वैभव" ग्रन्थ की पाँडुलिपि देखी। यह भगवत्कुन्दकुन्दाचार्य विरचित 'समयप्राभृत' नामक ग्रन्थ का भावानुवाद है। प्रथम तो किसी महान ग्रन्थ-कर्त्ता के अभिप्राय को समझना और फिर उसको छन्दोबद्ध पद्यमयी भाषा मे प्रकट करना---यह एक अत्यन्त कठिन कार्य है। परन्तु, समझा जा सकता है कि पंडितजी का इस दिशा में प्रयत्न सफल हुआ है। आपका परिश्रम सराहनीय है।

प्रस्तुत रचना जैन अध्यात्म तत्व के समझने मे बहुत कुछ सहायक होगी। यह ग्रन्थ अधिकाधिक प्रचार मे आवे, ऐसी शुभ कामना है।

जैन उदासीनाश्रम,
तुकोगंज, इन्दौर (म. प्र.)
दि. ८-७-१९७०

वंशीधर जैन
[स्याद्वादवारिधि, जैनसिद्धांतमहोदधि, न्यायालंकार]

स्याद्वादाभिनन्दनम् !

[१]

निशा में दशो दिशा के बीच
फैल जाता है जब तम-तोम,
उसे लयकर ज्यों दिव्य प्रकाश—
दिवाकर द्वारा करता व्योम ।

[२]

तथा मिथ्यात्व ग्रस्त जब विश्व
तत्त्व की करने सत्पहिचान—
वस्तुतः हो जाता असमर्थ
दूर करने तब भ्रांति महान—

[३]

जैनदर्शन तब निर्मल ज्योति
दिखाता स्याद्वाद के ओर।
तत्त्वविद् होते पुलकित देख
विवश हो जैसे चन्द्र चकोर।

[४]

वस्तु विषयक गुण धर्म अनेक,
एक कर मुख्य, शेष कर गौण—
न होता स्याद्वाद, तो तत्त्व—
कथन पथ यह दिखलाता कौन ?

[५]

जनों की पारस्परिक विरुद्ध—
दृष्टियों को देकर बहुमान—
समन्वय द्वार ग्रहण कर कौन
बढ़ाता अनेकांत की शान ?

[६]

जयतु ! जिनमुख निर्गत, अवदात—
परिष्कृत स्याद्वाद मय बैन ।
विश्व में मंगल मय हो दिव्य
जैन दर्शन की यह प्रिय बैन !

— नाथूराम डोंगरीय जैन

आत्म-निवेदन

भौतिक विज्ञान के नित नये आविष्कारो से चमत्कृत इस युग मे अधिकांश जनों को अध्यात्म की चर्चा कुछ अजीब सी प्रतीत होती है। मोहवशात् प्राणी अनादि से ही अपने सुख स्वरूप को भूला हुआ प्राय जड पदार्थों के भोगोपभोग द्वारा ही स्वय व दूसरो को सुख शाति प्राप्त करने कराने की नाना चेष्टाओं मे निमग्न रहा है और उसकी आज भी यही दशा है। यद्यपि जिन जिन वस्तुओ के भोगापभोग मे उसने भ्रम वश सुख की कल्पना की होती है, उन्हे प्राप्त करने और भोगने मे वह अनेक बार सफलताएँ प्राप्त कर चुका है, किन्तु इससे उसकी वास्तविक सुखी बनने की आतरिक अभिलाषा कभी भी पूर्ण नही हुई, प्रत्युत ज्यो ज्यो उन्हे भोगा और पर वस्तुओ से नाता जोडा त्यों त्यो इसकी नित नई इच्छाए दिन दूनी और रात चौगुनी बढती ही चली गई। फलत. पूर्वापेक्षा अपने को वह और भी दुखी एवं हीन सा अनुभव करता हुआ भी दुर्भाग्यवश अपने मति-भ्रम को मृग मरीचिका के समान अब तक भी उन्मूलन करने मे समर्थ नही हो सका।

इस सबध मे जैन दर्शन बिना किसी सम्प्रदाय पथ, जाति या वर्ग आदि तथा कथित भेद भाव के प्राणिमात्र के हित को दृष्टि मे रखकर सदा ही उच्च स्वर से घोषणा करता रहा है कि सुख शाति की खोज हम जड पदार्थों मे न कर अपने मे करे, अपनी ओर देखे जाने और अपने मे ही विश्राम करे; क्यो कि शाति और आनन्द आत्मा की अपनी वस्तु है' अत. वह अपने में ही प्राप्त होगी। पर वस्तु में जब कि उसका अस्तित्व ही नहीं है तब वह वहांकैसे प्राप्त हो सकेगी ? क्या रेत से तेल प्राप्त हो सकता है ?

आत्मा क्या है और क्या नही, अथवा वह है भी या नही? उसके सासारिक दुखो का मूल कारण क्या है, क्यो वह ससार परिभ्रमण कर दुखी हो रहा है और किस प्रकार दुखों से मुक्त होकर वास्तविक सुख शाति को प्राप्त कर सकता है ? आदि समस्याओं का समाधान करने के लिए ही समय समय वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा की वाणी के अनुसार जैनाचार्यों ने न केवल धर्मोपदेश द्वारा ही जनता को सबोधित किया, प्रत्युत् ग्रथों की रचना कर सदा के लिये उन उपदेशों को स्थायित्व भी प्रदान किया है।

भगवान् कुंदकुंद स्वामी का नाम एव स्थान उनमे सर्वोपरि है, जिन्होंने अब से करीब दोहजार वर्ष पूर्व प्राकृत भाषा मे मानव समाज को सुख शाति का वास्तविक सन्देश देकर उसका कल्याण किया है। उनके रचे हुए अनेक ग्रंथो मे समयसार (समयप्राभृत) एक अपूर्व आध्यात्मिक कृति है, जिसमे आचार्य श्री ने अपने परिपूर्ण आत्म वैभव का उपयोग कर शुद्धात्मा का स्वरूप (हमारा वास्तविक रूप) अन्य तत्वो के साथ दर्शाकर हमे वह अपूर्व ज्योति प्रदान की है जिसके प्रकाश मे आत्माका यथार्थ स्वरूप एक प्रकार से प्रत्यक्ष सा प्रतिभासित होने लगता है। इस ग्रंथ का प्रतिपाद्य विषय इतना गभीर और महान है कि जन साधारण तो दूर, कभी कभी जैनागम के विशिष्ट अभ्यासी विद्वज्जनो का भी उसका मर्म समझने मे कठिनाई सी प्रतीत होने लगती है। शताब्दियो से गुरु परपरा के विच्छिन्न एव इस ग्रथ के पठन पाठन की शृखला के भग हो जाने के कारण उसके यथार्थ भाव को समझने मे असुविधा का होना स्वाभाविक ही है। यही कारण है जो अपने पूर्व मताग्रह जन्य सकुचित विचारो मे उलझे रहने और नयो का यथार्थ ज्ञान न होने से हमारी तत्व चर्चा कभी २ वाद विवाद या विसवाद का रूप तक धारण कर लेती है।

असल मे जैनगाम का क्रमिक अभ्यास बिना किये एव निष्पक्ष भाव मे प्रमाण, नय, निक्षेप तथा निश्चय-व्यवहार, निमित्त-उपादान, हेयोपादेय आदि के स्वरूप को ठीक से बिना समझे तत्त्वार्थ का यथार्थ परिज्ञान करने के लिये समयसार का अध्ययन करना, एक प्रकार से तैरना सीखे बिना रत्न प्राप्ति हेतु समुद्र मे प्रवेश करने के समान है। इसके सिवाय वीतराग प्रणीत अनेकान्तात्मक वस्तु स्वरूप का स्वय समझ कर निष्पक्ष एवं वीतराग भाव से ही पात्र अपात्र का ध्यान रखकर दूसरो को समझाना भी नितान्त आवश्यक है, तब ही उसके द्वारा स्वपर कल्याण सम्भव है। इसीलिये ग्रन्थकार एवं टीकाकारो ने अनेक स्थलों पर इस विषय मे तत्व जिज्ञासुओं को सावधान भी किया है। श्रीमत्परमपूज्य अमृतचन्द स्वामी ने, जो समयसार के टीकाकार भी है, अपने पुरुषार्थ सिद्धयुपाय नामक ग्रंथ की भूमिका मे लिखा है:—

"व्यवहार निश्चयौ यः प्रबुद्ध्य तत्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकलं शिष्यः।"

अर्थात् जो शिष्य व्यवहार और निश्चय के रहस्य एव स्वरूप को भलीभांति समझ कर तत्व के विषय मे निष्पक्ष भाव की शरण ले कर मध्यस्थ (न्यायाधीश-जज) बन जाता है (किसी एक नय का दुराग्रह नही करता) वही जैन शासन के रस्हय को भली भांति समझ कर उसके मधुर फल को परिपूर्ण तया प्राप्त होता (सम्यक्ज्ञानी बन कर कल्याण का पात्र बनता) है ।

आचार्य श्री की उल्लिखित चेतावनी की ओर यदि हम तनिक भी ध्यान दे तो अपने सकुचित दृष्टिकोण से उत्पन्न व्यर्थ की खीच तान के समाप्त होने मे तनिक भी देर न लगे, किन्तु मोही जीव के महामोह की महिमा ही निराली है ! वह यहां भी जिज्ञासुभाव का परित्याग कर मोह के कुचक्र मे फँस जाता है और तत्वज्ञान एव उसके साधनो (नयो और प्रमाणो) के विषय मे भी राग द्वेष की शरण लेकर अपने चिर कालीन अज्ञान भावकी ही किसी न किसी रूप मे पुष्टि करने लग जाता है । जब वह भ्रम वश निरानिश्चयैकान्त, व्यवहारैकान्त अथवा उभयैकान्त का आश्रय लेकर एक अभिभाषक (वकील) की तरह वीतराग भगवान् की अनेकान्तमयी वाणी को निरपेक्ष एकान्त रूप में प्रतिपादन करता हुआ भी उसे अनेकान्त और अपनी वाणी को स्याद्वाद घोषित करने का दु साहस करने लगता है, तब स्थिति और भी विचारणीय बन जाती है ।

ऐसे मोही शिष्यो को दृष्टि में रखकर ही उन्हे चेतावनी देते हुए आचार्य श्री को अपने उक्त ग्रथ पुरुषार्थसिद्धयुपाय के मध्यमे पुन सावधान करना पड़ा । वे लिखते हैं:—

"अत्यन्त निशितधारं दुरासदं जिनवरस्य नय चक्रम् ।
खंडयति धार्यमानं मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानाम् ।"

अर्थात् श्री जिनेन्द्र का नय चक्र अत्यन्त तीक्ष्ण धारवाला होने के कारण बड़ी ही सावधानी से प्रयोग करने योग्य है, क्योकि जो मूर्ख बिना समझे बूझे असावधानी से इसे धारण करते-प्रयोग करते या खींचतान करते हैं उनके मस्तक को यह तुरंत ही विदीर्ण कर डालता है ।"

अत: आचार्य श्री की उल्लिखित चेतावनी को ध्यान मे रखकर ही हमें जिनवाणी (समयसार) का निष्पक्ष भाव से अध्ययन कर उसके मर्म को समझने-समझाने का प्रयत्न करना चाहिये। वस्तुत: निश्चय व्यवहार आदि नय साध्य न होकर तत्वज्ञान के साधन है। हेय और उपादेय का निर्णय तत्वज्ञान का फल है। वस्तु स्वयं निश्चय व्यवहारात्मक (द्रव्य पर्यायात्मक) है। इसीलिये जब वह किसी एक नय की मुख्यता से प्रतिपादित होती है तब इतर नयप्रतिपाद्य विषय का गौण हो जाना भी उसके अनेकान्तात्मक स्वरूप के कारण स्वाभाविक ही है। ऐसी दशा में कोई भी नय, चाहे वह निश्चय हो या व्यवहार इतर नय सापेक्ष बना रह कर ही विवक्षावश अपनी बात को आंशिक सत्य के रूप मे प्रकट कर सत्यांश का प्रतिपादक माना गया है, जब कि निरपेक्ष कोई भी नय एकान्त परक होने से मिथ्यैकान्त की कोटि मे चला जाता है।

इस ग्रंथ का प्रतिपाद्य विषय व्यवहार सापेक्ष निश्चय (शुद्ध) दृष्टि प्रधान है, जो कि ग्रंथ कर्ता के एकत्व विभक्त स्वरूप आत्म तत्व का दिग्दर्शन कराने के अपने प्रारंभिक प्रतिज्ञात उद्देश्य के अनुरूप ही है। साथ ही यह भी कि प्रतिपाद्य विषय, ग्रंथकर्ता के अनुसार उन परमभावदर्शी महान सन्त पुरुषों को न केवल प्रयोजनीय, प्रत्युत आश्रयणीय भी है, जिन्हे वास्तव मे भेद विज्ञान पूर्वक स्वानुभूति संप्राप्त है और जिनकी साधना अपनी सर्वोत्कृष्ट सीमा को पहुंच चुकी या पहुँचने वाली हैं और जिनकी वृत्तियां राग द्वेष विहीन होकर परमवीतरागता की ओर उन्मुख है। किन्तु जो साधक अभी तक उस परम समरसी भाव या भावना से दूर प्राथमिक दशा मे ही विद्यमान है, उन्हें निश्चय सापेक्ष व्यवहार नय ही नितान्त प्रयोजनीय है। अत. इस संबध मे वक्ता को श्रोता की पात्रता अपात्रता पर ध्यान रखना भी परम आवश्यक है। अन्यथा प्राथमिक दशा मे विद्यमान व्यक्तियों का समयसार की शुद्धनय प्रधान वाणी से प्रभावित होकर अपने आपको (रागी, द्वेषी, मोही होते हुए भी) सर्व दृष्टि से ज्ञानी या शुद्ध, बुद्ध, निरंजन, निर्विकार रूप मे अनुभव करने लगने से श्रीयुत, विद्वद्वर स्व. कविरत्न पं. बनारसीदास जी के समान उन्ही के शब्दो मे 'ऊँट का पाद' [१] बन जाने की सम्भावना को टालना कठिनहै। अस्तु,

---

१. "करनी को रस मिट गयौ, भयौ न आतम स्वाद।
भई 'बनारसि' की दशा—जथा ऊँट कौ पाद॥५९५॥"

—अर्द्ध कथानक (पं. बनारसीदासजी की आत्मकथा) से साभार

समयसार का स्वाध्याय करते समय उसके कुछ ही अशों का अध्ययन करने पर मुझे स्वत ही कुछ आतरिक प्रेरणा उत्पन्न हुई कि मूलग्रथ एव टीकाओ के भावो पर आधारित सरल राष्ट्र भाषा मे निष्पक्ष भाव से एक काव्य की रचना की जावे—जो स्वात सुखाय होते हुए, अध्यात्म प्रेमी अन्य धर्म बन्धुओ को भी नयो की सापेक्ष दृष्टियो से जिन प्रणीत तत्वो के स्वरूप का यथार्थ मे भान करा सके। फलत प्रयास प्रारभ किया गया और अनेक विघ्न बाधाओ को पारकर प्रथम जीवाजीवाधिकार का निर्माण कार्य सपन्न हो गया। इस बीच जब कुछ अध्यात्म रसिकबन्धुओ ने इसका अवलोकन किया तो उन्होने इस रचना को उपयोगी समझकर किसी भी दशा मे पूर्ण करने का आग्रह किया—जिसके फलस्वरूप यह "समयसार—वैभव" आप सब की सेवा मे प्रस्तुत करते हुए आज मुझे बडे हर्ष का अनुभव हो रहा है।

परमागम का प्राण अनेकान्त है जो विभिन्न नयों की परस्पर विरुद्ध दृष्टियो का समन्वय कर वस्तु तत्व की यथार्थता को स्याद्वाद द्वारा प्रकटकर सम्यग्ज्ञान का आधार माना गया है। अत इस ग्रथ मे अनेकात पद्धति का अनुसरणकर ही वस्तु स्वरूप का विवेचन किया गया है। यद्यपि ग्रथ का परिपूर्ण विषय मूल ग्रथ कर्त्ता तथा टीकाकारो के यथार्थ भावो एवं अभिप्रायो पर ही आधारित हैं, किन्तु "को न विमुह्यति शास्त्र समुद्रे" आचार्यों की इस उक्ति के अनुसार अत्यन्त सावधानी वर्तते हुए भी यदि त्रुटिया रह गई हो तो उनकी ओर सप्रमाण सकेत करने तथा प्रस्तुत ग्रन्थ के सबध मे अपनी शुभ सम्मति एव सत्परामर्श शीघ्र ही भिजवाने के लिये विद्वज्जन एव पाठक गण विनम्रभाव से आमत्रित हैं—ताकि द्वितीय सस्करण मे उनका सदुपयोग हो सके।

अन्त मे मै पूज्य गुरुवर्य, अध्यात्म मर्मज्ञ, समाज के मूर्धन्य एवं प्रतिष्ठित विद्वान्, श्रीमान् प. जगन्मोहनलाल जी सिद्धातशास्त्री, प्रधान व्यवस्थापक शाति निकेतन कटनी (जिला जबलपुर) तथा प्रधान मत्री भारत दि जैन सघ, (चौरासी मथुरा) का अत्यन्त आभार मानता हूँ कि जिन्होने तत्परता के साथ इस रचना का प्रारभ मे परिशीलन कर त्रुटियो को निरस्त करने मे अपना बहुमूल्य योगदान प्रदान कर मुझे अनुग्रहीत बनाया एव मेरे अनुरोध को स्वीकार कर इस ग्रथ की सारगर्भित विद्वत्तापूर्ण विस्तृत भूमिका (प्राक्कथन) लिखने की भी कृपा की, जिसमे एक प्रकार से समयसार का सार ही निचोड कर रख दिया गया है। इसके लिये मेरे साथ समाज भी उनका चिर ऋणी रहेगा।

श्रीमन्माननीय अध्यात्म मर्मज्ञ-स्याद्वाद वारिधि, जैनसिद्धांत महोदधि, न्यायालकार, विद्वच्छिरोमणि, श्रद्धेय ब्रह्मचारी पं. वशीधरजी सा. सिद्धांत शास्त्री, आद्य अध्यक्ष अ. भा. दि. जैन विद्वत्परिषद् एवं भू. पू. प्राचार्य सर हुकुमचन्द जैन महाविद्यालय इन्दौर का भी मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ, कि जिन्होंने जीवन का अधिकाश समय समयसार के अध्ययन मे ही विताया होकर बहुत समय पूर्व ग्रंथ का प्रथम अधिकार देखकर इसे पूर्ण करने का प्रोत्साहन एवं प्रेरणा की थी तथा पुनः आद्योपान्त ग्रंथ का अनुशीलन कर उचितसत्परामर्श दिये और अन्त मे प्रस्तावना लिखने का भी कष्ट उठाया। समाज के अग्रणी नेता रावराजा अनेक पद विभूषित मा. श्रीमंत सेठ हीरालालजी सा कासलीवाल का मैं परम आभार मानता हूं, जिन्होंने सहर्ष ग्रंथ के प्रथम सस्करण का परिपूर्ण अर्थ भार वहन कर उसे धर्म प्रभावनार्थ समाज की सेवा में भेंट स्वरूप समर्पण किया।

गत पर्युषण पर्व मे भाद्र शुक्ला चतुर्दशी को इस ग्रन्थ के प्रथम सस्करण का विमोचन समारोह श्री मा. भैया मिश्रीलालजी सा. गगवाल की अध्यक्षता में आयोजित होकर सिद्धात सेविका जैन महिलारत्न, दानशीला मा सा कचनबाईजी सा. के कर कमलो द्वारा सम्पन्न हुआ था। इस अवसर पर हजारों जनता की उपस्थिति मे अध्यक्ष महोदय के अतिरिक्त अनेक पद विभूषित श्रीमत सेठ हीरालालजी सा एव श्रीमंत सेठ राजकुमार सिंह जी सा. तथा पूज्य न्यायालंकार पं वंशीधरजी सा. इन्दौर, श्री प पन्नालालजी साहित्याचार्य सागर एव श्री प. नाथूलाल जी सा. शास्त्री इन्दौर ने जो ग्रथ की उपयोगिता आदि के सबध मे हार्दिक उद्‌गार व्यक्त कर अपनी उदारता का परिचय दिया था उसके लिये मैं सभी महानुभवों का आभारी हू।

अत मे इस द्वितीयावृत्ति को इतने शीघ्र प्रकाशित करने मे अपने सहयोगी श्री पूरनमल वृद्धिचन्द जी पहाड़या, श्री मिश्रीलाल इन्दौरीलाल जी बड़जात्या, श्री मागीलालजी सा. पाटनी श्री भाई राधेश्यामजी सा. अग्रवाल तथा श्री प. कुन्दनलालजी न्यायतीर्थ आदि स्नेही महानुभावो को मैं हृदय से धन्यवाद देता हू!

विनीत :–

नाथूराम डोंगरीय जैन

भूमिका

इस गतिमान्, अस्थिर, विषम एवं दुःखमय संसार में आत्मा के उद्धार का एकमात्र उपाय आत्म स्वरूप का यथार्थ परिज्ञान है। 'समयसार' उसका प्रतिपादक अधिकृत ग्रंथ है। 'समय' शब्द शुद्ध द्रव्य का वाचक है। इस ग्रंथ में इसका विवेचन सार भूत द्रव्य 'शुद्धात्म द्रव्य' के रूप में किया गया है। ग्रंथकार श्री भगवान् कुंदकुंद ने ग्रंथ के प्रारंभ में ही इसका प्रतिपादन प्रतिज्ञा रूप में निम्न भांति किया है:—

तं एयत्त विहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण ।।
जदि दाएज्ज पमाणं, चुक्किज्ज छलं ण घेतव्वम् ।।५।।

मैं "एकत्व-विभक्त" आत्मा का स्वरूप अपनी सम्पूर्ण शक्ति (आगम ज्ञान-युक्ति तथा अनुभव) से ग्रंथ में दिखाऊंगा। यदि बता सकूं तो प्रमाण (स्वीकार करना)। किन्तु यदि बताने में चूक हो जाय, तो उसे छल रूप ग्रहण न करना। निरहंकारता पूर्वक यह ग्रंथकार की दृढ़ प्रतिज्ञा है।

एकत्व-विभक्त का यह अर्थ है कि जो अपने निज स्वरूप में स्थित तथा पर द्रव्य से भिन्न हो, उसे ही शुद्ध द्रव्य कहते हैं। लोक में भी शुद्ध पदार्थ उसे कहते हैं जो किसी भिन्न पदार्थ से अमिश्रित हो, तथा विकृत न हो। उदाहरण के लिए 'घृत' को ले लीजिए। यदि उसमें तैल या वनस्पति तेल अथवा अन्य कोई पदार्थ मिला हो तो उसे "शुद्ध घी" नहीं कह सकते। इसी प्रकार यदि वह अमिश्रित होकर भी पीतल आदि बर्तन के योग को पाकर नीला या हरा हो गया है या बे स्वाद हो गया है, तब भी उसे शुद्ध घृत नहीं कहते। इसी प्रकार "आत्मा" चैतन्य लक्षण है, वह ज्ञानावरणादि अष्ट कर्म, तथा शरीरादि नो कर्म, और क्रोधादि भाव कर्म द्वारा यदि मिश्रित-मलिन है, एवं स्वरूप विकृत हो गया है, तो उसे 'शुद्धात्मा' नहीं कह सकते हैं।

इसे ही समयसार में निजके स्वरूप में अभिन्न तथा अपने से पृथक् स्वरूप वाले पुद्‌गलादि से तथा अन्य जीवादि संपूर्ण पर द्रव्यो से भिन्न आत्मा को ही "एकत्व विभक्त" आत्मा कहा गया है ।

किसी भी पदार्थ की शुद्धता स्वास्तित्व (एकत्व) और पर के नास्तित्व (विभक्तत्व) के बिना नहीं होती । यही जैनधर्म के अनेकांत का स्वरूप है । अनेकान्त शासन (सिद्धांत) की मुद्रा (छाप) संसार के अणु-अणु पर है । किन्तु यह ग्रंथ 'समयसार' आत्म कल्याण के ध्येय से ही मुमुक्षुओं के लिए लिखा गया है । अतः इसमें "शुद्ध-आत्मा" का ही विवेचन है । इस शुद्धात्मा का ही दूसरा नाम 'समयसार' है ।

निज शुद्धात्म स्वरूप को आगम बल से या गुरूपदेश से जानकर उसकी दृढ़ प्रतीति तथा उसी में रमण करना ही मोक्ष का मार्ग है । अनादिकाल से कर्म संयोग से तथा तन्निमित्त जन्य अपनी मलिनता से यह आत्मा अशुद्ध हो रहा है । अपनी इस अशुद्धता का इसे भान नहीं है । मोह (मिथ्यात्व) कर्मोदय की स्थिति में इसका ज्ञान भी विकृत होगया है, फलतः इसे अपनी यथार्थ स्थिति की न जानकारी है न उसे जानने की रुचि है । पर में ही मगन हो रहा है ।

संयोग वियोग को साथ लेकर आता है । जब यह पर संयोग में अपना लाभ मान कर सुखी होता है, तब उसके वियोग में, जो अवश्यंभावी है, दुखी होना भी इसके लिए अनिवार्य है । यदि इसे पर के परत्व का और स्व के शुद्ध स्वरूप का भान एकबार हो जाय तो इसके सुख का मार्ग खुलजाय । इसी उद्देश्य से आप्त पुरुषों ने आत्मशुद्धि के मार्ग स्वरूप सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित्र रूप मोक्ष मार्ग का प्रतिपादन किया है ।

भगवान् उमास्वामी ने सप्ततत्त्व के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है । इस ग्रंथ में भी आचार्य ने भूतार्थनय से सप्ततत्व को जानने तथा श्रद्धान करने की बात लिखी है । तथापि उस तत्वविवेचन के मूल में अभिप्राय एकमात्र यही है कि यह जीव उन तत्वो को, जो पर हैं, पर रूप में जानकर उनसे आत्मा की भिन्नता को पहिचाने, और निज शुद्धात्मा में ही रमण करे । यही मोक्ष मार्ग है ।

ग्रंथकार ने अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए इस ग्रंथ को नव अध्यायों में विभक्त किया है । 1. जीवाजीवाधिकार । 2. कर्त्ताकर्माधिकार । 3. पुण्यपापाधिकार ।

4. आस्रव अधिकार । 5. संवर अधिकार । 6. निर्जराधिकार । 7. बंध अधिकार । 8. मोक्ष अधिकार । 9. सर्व विशुद्धि अधिकार । (10. स्याद्वाद अधिकार) इनका संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जाता है ।

जीवाजीवाधिकार

इसमें जीव के एकत्व की अर्थात् 'स्वसमय' की कथा है, तथा बंध की कथा अर्थात् 'पर समय' की भी कथा है । स्वसमय कथा आनन्ददायिनी है और परसमय की कथा विसंवादिनी है । जीव तो ज्ञायक स्वभावी स्वयं अनन्त चैतन्य का पुंज है । स्वरूप से त्रिकाल शुद्ध है । ज्ञानी के सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र है, ऐसा कथन (भेद रूप कथन) व्यवहार नय से किया जाता है । परमार्थनय (निश्चयनय) से देखा जाय तो आत्मा अखण्ड है, ज्ञान दर्शन चारित्र से अभिन्न है, उसमें भिन्न-भिन्नपना नहीं है । भेद कथन ही व्यवहार कथन है तथा अभेद स्वरूप वस्तु का अखंड एकाकार जैसा कि वह है-वैसा वर्णन करना निश्चय परक कथन है । वस्तु का स्वरूप यदि जानना है तो उसे भेद २ कर ही जाना जा सकेगा । इस अपेक्षा से व्यवहार नय उपयोगी है, उसके बिना निश्चयात्मक अखंड, एक वस्तु का स्वरूप नहीं जाना जा सकता, इसीलिए व्यवहार नय भी प्रयोजनीय है, ऐसा कहा गया है । इन दोनों को भेदनय और अभेदनय-ऐसे दो नाम देना ही ज्यादा सुसंगत होगा ।

भेद प्रतिपादकता की दृष्टि से जहाँ वस्तुगत भेद प्रतिपादित हो वहां वह नय वस्तु के निश्चयात्मक स्वरूप का ही निर्देश करता है, अतएव उसे "स्वाश्रितो निश्चयः" इस निश्चय के लक्षणानुसार निश्चयनय में ही शामिल कर सकते हैं । तथा "पराश्रितो व्यवहारः" इस व्यवहार के लक्षण के अनुसार परद्रव्य सापेक्ष आत्मा के वर्णन को ही व्यवहार नय कहेंगे । संसारी आत्मा को, उसकी उस अशुद्धावस्था में भी "आत्मा" कहना, यह पराश्रित व्यवहारनय का कथन है । इस नय का भी प्रयोजन पर के परत्व का प्रतिपादन ही है, अतः शुद्ध पदार्थ के बोध कराने के लिए इसका भी प्रयोजन है ।

अशुद्धात्मा के प्रतिपादक व्यवहार नय को अभूतार्थ (अशुद्धार्थ) का प्रतिपादक होने से अभूतार्थ कहा है, और शुद्धात्मा (भूतार्थ) के प्रतिपादकनय निश्चयनय को भूतार्थ कहा गया है । संसारी जीव की वर्तमान रागादि रूप अवस्था आत्मा का शुद्ध स्वरूप नहीं

है-मात्र इतना ही प्रयोजन है। यह अभिप्राय नहीं है कि व्यवहार नय और उसका विषय संसारी जीव असत्यार्थ है-उनका अस्तित्व ही नहीं है। यदि इसे सर्वथा असत्यार्थ माना जाएगा तो संसार का असत्य होगा और यदि संसार असत्य है तो मोक्ष के उपदेश की क्या आवश्यकता है और वह किसके लिए है ?

ग्रंथकार की इस नय विवेचन दृष्टि को पहचान कर ही ग्रंथ का मर्म जाना जा सकता है, अन्यथा नहीं। इसी दृष्टि से ग्रंथकार ने भूतार्थ (निश्चय) नय से जीवादि नव पदार्थों का विवेचन किया है और यह बताया है कि नवपदार्थों का यथार्थ स्वरूप जानकर उनमें जीव तत्त्व का यथार्थ स्वरूप क्या है, उसे पहिचानकर उस निज आत्मा की श्रद्धा करो, यही सम्यग्दर्शन है। यदि व्यवहार पक्ष से प्रतिपादित जीवादि के स्वरूप को यथार्थ (शुद्ध) पदार्थ मान लोगे तो अशुद्धता ही हाथ लगेगी। अतः ए व्यवहारी जनो ! शुद्ध निश्चय नय से वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानकर उसे प्राप्त करने में अग्रसर होओ। भेद विज्ञान के बल से पर से भिन्न त्रिकाल शुद्ध स्वरूप निजात्मा को पहिचानो।

जब आत्मा निज स्वभाव से शुद्ध है, तब मुमुक्षु को यह प्रश्न सहज ही हो सकता है कि मेरी वर्तमान अशुद्धावस्था क्यों हुई ? और वह शुद्ध कैसे होगी? प्रकारान्तर से यह प्रश्न इस रूप से भी कहा जा सकता है कि मेरी दुःखमय संसारावस्था क्यों है ? और वह कैसे मिटे ?

इस प्रश्न का समाधान करने के लिए कोई ईश्वर को कर्त्ता मानते हैं। कोई पौद्-गलिक जड़ कर्म को कर्त्ता कहते हैं। किंतु परके कर्तृत्व का और भोक्तृत्व का अभाव है जिसका प्रतिपादन द्वितीयाधिकार में किया गया है, जिसका नाम है—

कर्त्ता-कर्माधिकार

इस अधिकार में आचार्य श्री ने यह स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि प्रत्येक द्रव्य अपने अपने गुण सहित अपनी अपनी पर्यायरूप स्वयं परिणमन करता है। परिणमन करना द्रव्य का स्वभाव है। कोई एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के परिणमन का न कर्त्ता है और न उसका भोक्ता है। यह जैन धर्म का मूल सिद्धांत है।

इसके अनुसार आत्मद्रव्य भी अपने परिणमन का स्वयं कर्त्ता है, स्वयं भोक्ता है।

ईश्वर—पर आत्मा या जड़-कर्म इसके परिणमन के कर्ता भोक्ता नहीं हैं। अपनी वर्तमान अशुद्ध परणति का कर्ता एवं उसके फलका भोक्ता स्वयं जीव है, और उसे परिवर्तित कर अपनी शुद्ध परणति रूप परिणमन का कर्ता और भोक्ता भी जीव ही होगा। अन्य पदार्थ नहीं।

यद्यपि प्रत्येक पदार्थ के परिणमन में पर द्रव्य निमित्त होता है, तथापि निमित्त उस परणति का कर्ता नहीं होता। किसी पदार्थ की परणति किसी दूसरे पदार्थ की परणति में अनुकूल पड़े तो वह 'निमित्त' संज्ञा पाती है, उसे "निमित्त कारण" कहते हैं।

निमित्त अपनी पर्याय रूप प्रवर्त्तता है। तथापि उसकी पर्याय अनुकूलता रूप से पर द्रव्य की परणति में सहायक (सह-अयते, साथ साथ चलना) होती है। इसी से उसे निमित्त कहते है। वह पर का कार्य स्वयं नहीं करता।

यदि वह पर का कार्य करे तो उसे उसकी स्वयं की परणति और परपरणति—दोनों का कर्त्ता होने से द्विक्रिया कर्तृत्व-प्रसंग आयगा, इसका निषेध ग्रंथ में किया है। यदि ऐसा माना जाय कि निमित्त ही पर का कार्य करता है और उसकी परणति का कर्ता कोई अन्य निमित्त है, तो उस निमित्त की परणति का कर्त्ता भी कोई अन्य निमित्त होगा, तब अनवस्था दोष आयगा। फलतः तर्क से भी यह सिद्ध है कि किसी द्रव्य की परणति का कर्ता पर द्रव्य नहीं होता। प्रत्येक द्रव्य अपनी अपनी परणति का स्वयं कर्ता है। और यह परिणमन द्रव्य का स्वभाव है। स्वभाव उसे कहते हैं जिसके होने में पराश्रयता न हो।

इतना निर्णीत हो जाने पर भी प्रश्न अपनी जगह खड़ा है—कि जीव अशुद्ध क्यों हुआ? और शुद्ध कैसे होगा? उत्तर यह है कि जीव अपने पूर्व में बांधे हुए कर्मोदय के निमित्त से स्वयं रागी द्वेषी बनता है, और अपने इन राग द्वेषादि परिणामों के निमित्त से नवीन कर्म बंध करता है। पुनः कालान्तर में इन बद्ध कर्मों के उदय के निमित्त से रागी द्वेषी होता है और फिर इन विकृत परिणामों से कर्मबंध करता है। ऐसी परंपरा बीज वृक्षवत् या पिता पुत्र वत् अनादि से चली आ रही है।

यदि जीव गुरु के उपदेश और आगम के अभ्यास से स्वस्वरूप का जानकर, अपने में कर्मोदय की स्थिति वर्तमान रहते हुए भी उसे निमित्त न बनावे, अपने स्वरूप का अवलंबन

करे, कर्मोदय का अवलंबन न करे तो कर्म निमित्त नहीं बन सकता और ऐसी स्थिति में वह जीव अपनी उस स्वपरणति का कर्त्ता भोक्ता होगा जो उसने अपने पुरुषार्थ से अपने में प्रकट की है। कर्म का न कर्त्ता होगा और न भोक्ता होगा। यही रत्नत्रय का रूप है। जो उसके मोक्ष मार्ग का (संसार बंधन के तोड़ने का) हेतु है। बंधन की यह अनर्थ परंपरा इस प्रकार (दग्धबीजवत्) स्वयं समाप्त हो जाती है। इसे ही मोक्ष कहते हैं। मोक्ष प्राप्ति के लिए व्यक्ति को शुभ और अशुभ दोनों पर निमित्त अन्य परणतियों का त्याग कर शुद्ध परणति का अवलंबन करना चाहिए, जो स्वाधीन है। शुभरूप परिणाम पुण्यबंध के कारण हैं और अशुभरूप परिणाम पाप बंध के कारण हैं। बंध की अपेक्षा दोनों समान हैं। इस बात के प्रतिपादन हेतु तृतीय अधिकार—

पुण्य पापाधिकार

को आचार्य श्री ने लिखा है। इस अधिकार में यह निर्देश किया है कि जीव के भाव तीन प्रकार हैं—शुद्ध, शुभ और अशुभ। मोह राग-द्वेष रूप विकारों से रहित आत्मा के जो परिणाम हैं वे शुद्ध भाव हैं, इन भावों से जीव को कर्म बंध नहीं होता, ये मोक्ष के लिए साधन भूत हैं। तथा दान-पूजा-व्रतादिक शुभ कार्यों के निमित्त से जो आत्म परिणाम होते है वे शुभ भाव हैं, इनका फल पुण्यकर्मका बंध है। और मिथ्यात्व के परिणाम तथा विषय कषाय के कारण हिंसादि पापरूप व भोगादिरूप परिणाम है वे अशुभ भाव हैं, जिन का फल पाप कर्म का बंध है।

पुण्य कर्म के उदय से देव मनुष्यादि गति तथा तत् संबंधी सांसारिक इन्द्रिय जन्य सुख की प्राप्ति होती है, और पाप कर्म के उदय से जीव नरकतिर्यञ्चगति व तत् संबंधी विविध प्रकार के दुःख प्राप्त करता है।

सर्व संसारी जीवों की प्रवृत्ति अधिकतर पापमय होती है, जिसके फल स्वरूप उन्हें कुयोनियों में दुःख भोगना पड़ता है, अतः पाप को छोड़कर पुण्य करना उत्तम माना गया है। शास्त्रकारों ने प्रथमानुयोगादिग्रंथों में पुण्य की बहुत महिमा गाई है, तथापि मोक्ष मार्ग की दृष्टि से दोनों ही बाधक हैं। पुण्य पाप दोनों बंधन है, एवं बंधन मोक्ष का बाधक है।

पुण्य फल की रुचि का अर्थ सांसारिक विषयों की वांछा ही तो है, और विषयों की वांछा स्वयं पाप रूपभाव है। तब प्रकारान्तर से रुचिपूर्वक पुण्य का भोग पापबंध का कर्त्ता ही होगा। विचार कीजिए कि जिस कार्य का परिणाम अन्तिम रूप से पाप का बंध हो उसे उत्तम कैसे कहा जाय? वह जीव का हित रूप कैसे हो सकता है? यदि किसी व्यक्ति से कहा जाय कि आपको आज राज्यसिंहासन का पूर्ण अधिकारी बनाया जाता है, संपूर्ण राज्य वैभव का आज तुम भोग कर सकते हो, पर इसकी कीमत कल फांसी पर चढ़कर चुकानी होगी, तो कोई भी बुद्धिमान ऐसे राज्य सिंहासन का दूर से ही परित्याग करेगा।

इसी प्रकार जिस पुण्यबंध के उदय से प्राप्त सांसारिक मनुज-देव पर्याय के सुख भोग, पाप का बंध कराकर नरक तिर्यंच आदिपर्यायों में पुनः घोर दुःख के कारण बन जायें— उस पुण्य को भी हेय ही मानना होगा।

यह सही है कि मिथ्या दृष्टि की अपेक्षा सम्यग्दृष्टि जीव के पुण्य बंध अधिक होता है। संयमी जीवों के उससे अधिक पुण्यबंध होता है। पर ये जीव पुण्य को भी हेय मानकर ही चलते हैं। क्योंकि इनकी दृष्टि सांसारिक सुख प्राप्ति की नहीं होती, ये तो पुण्य-पाप दोनों को बंध का कारण जानकार उससे ऊपर बढ़ना चाहते हैं। इसीलिये सम्यग्दृष्टि जीव स्वर्गादि गतियों में, इन्द्रादि के वैभव पाकर, तथा मनुष्य गति में चक्रवर्ती आदि पद की विभूतियां पाकर भी इन सब को तथा वहां की लम्बी आयु को भी मोक्षमार्ग के लिए अन्तराय रूप ही मानते हैं।

वस्तुतः विचार करने पर आप भी अनुभव करेंगे कि जैसे सुवर्ण के पींजड़े में बंद हुआ मिश्री खीर खाने वाला भी तोता, जिसकी चोंच सोने से मढ़ाई गई है, अपनी उस संपूर्ण सुखमय दशा को बंधन रूप मानकर दुखी है, और अवसर पाते ही पिंजरा छोड़ स्वतंत्र होकर अपने को सुखी अनुभव करता है। इसी प्रकार जिसकी दृष्टि शुद्ध हो चुकी-जिसकी दृष्टि से मोह जन्य भ्रम दूर हो गया है वह सम्यग्दृष्टि भी पुण्योदय से प्राप्त समस्त वैभव को अपने इष्ट-मोक्ष मार्ग के लिए बंधन रूप-दुखरूप-पराधीनतारूप और अंतरायरूप मानता है। अतः मिथ्यात्व का पर्दा हटाकर सम्यग्दर्शन के विमल नेत्र से देखने पर पाप-पुण्य दोनों बंधनरूप-पराधीनतारूप-दुख रूप और मोक्ष महल में प्रवेश के लिए अर्गलारूप ही हैं। यही भाव इस तृतीय अधिकार में विशेषरूपसे प्रकपित हैं। यहां यह विवेचन भी सामयिक

होगा कि कुछ बंधु–"पुण्ण फला अरिहन्ता" आदि प्रवचनसार की इस गाथा का यह अर्थ करते हैं कि पुण्य के फल से अरहन्त अवस्था प्राप्त हुई है, ऐसा समझना नितांत भूल है। अरहन्त दशा तो चार घातिया कर्म के नाश होने से प्राप्त हुई है। अनन्त चतुष्टय की प्राप्ति पुण्योदय से नहीं है, घातिया कर्मों के नाश से है।

गाथा में तो यह प्रतिपादित हैं कि अरहन्त दशा में संपूर्ण श्रेष्ठतम पुण्य का परिपाक हुआ है, उसका फल-समवशरणादि विभूति,–देवेन्द्रों–चक्रवर्तियों द्वारा प्राप्त पूज्यपना, शरीर की परमौदारिकता-आदि हैं–जो संसार में किसी अन्य पद में प्राप्त नहीं होते। तथापि विचार कीजिए तो ये ही सब पुण्योदय रूप अघातिया कर्म की प्रशस्त प्रकृतियाँ ही तो उनके मोक्ष के लिए बाधक हैं। जब तक इनका नाश नहीं होता तब तक वे अरहन्त प्रभु सिद्धावस्था प्राप्त नहीं कर पाते। अतः पुण्योदय की पराधीनता उनकी स्वाधीनता की बाधक है।

अध्यात्म ग्रंथों का विवेचन मोक्षमार्ग की दृष्टि से है। मोक्षमार्ग और बंधन मार्ग दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। पुण्य के उदय आने पर प्राप्त सामग्री का उपयोग जो अपने पुण्य-पाप के बंधन तोड़ने में ही करते हैं वे धन्य हैं! ऐसे व्यक्तियों का पुण्य मोक्षमार्ग का साधन बना–ऐसा मात्र उपचार कथन है, परमार्थ में तो वह बाधक भी है। पुण्य पापाधिकार-पुण्य और पाप की रुचि छुड़ाकर जीव को मोक्ष मार्ग के साक्षात् साधक शुद्ध भाव को प्राप्त करने की प्रेरणा देता है।

इसका प्रकारान्तर से स्पष्ट विवेचन करने के लिए ही चौथा—

आस्रव अधिकार

लिखा गया है। मिथ्यात्व-अविरति-कषाय-योग इन चार प्रकार के कारणों से कर्मास्रव होता है। ये चारों ही जीव के विभाव भाव स्वरूप होने से जीव से अनन्य हैं। सम्यग्दृष्टि जीव से आस्रव नहीं होता, इसका कारण यह है कि वह ज्ञानी है। और उक्त चारों भाव अज्ञानमय भाव हैं।

यहाँ सम्यग्दृष्टि से या ज्ञानी से तात्पर्य पूर्णरीत्या जो ज्ञानमय उपयोग को प्राप्त हैं

उनसे है, उनके उपयोग में राग-द्वेष-मोह भाव नहीं है, अत: वे आस्रव बंध नहीं करते। रागादि रहित जीव अबंधक कहा गया है।

ज्ञानगुण का परिणमन यथाख्यात चारित्र के पूर्व जघन्यभाव रूप परिणत होता है, वहां राग का सद्भाव होने से ज्ञानी अपने जघन्य ज्ञान गुण रूप परिणमन के कारण बंधक है।

इससे सिद्ध है कि इस प्रकरण में "ज्ञानी अबंधक है" ऐसा जो कहा गया है, वहां ज्ञानी से तात्पर्य यथाख्यात चारित्र को प्राप्त रागादि कषाय के उदय रहित दशवें गुणस्थान से उपरितन वर्ती जीव से हैं।

यद्यपि चतुर्थ गुणस्थान से ही सम्यग्दृष्टि ज्ञानी संज्ञा प्राप्त है, तथापि इस प्रकरण में रागद्वेष मय परिणाम को "अज्ञान" भाव ही कहा है, अत: चतुर्थादिगुणस्थान में बंध होता है वह रागादिमय अज्ञान परिणाम से ही है। तात्पर्य यह है कि चतुर्थादिगुण-स्थानी सम्यक्त्व के सद्भाव के कारण 'ज्ञानी कहा जाता है। उसके मोह (मिथ्यात्व) और अनंतानुबधी संबधी रागादि का अभाव है अत: वह संसार के कारणभूत प्रकृतियों का अबंधक है। पंचमादिगुणस्थान भी अप्रत्याख्यान प्रत्याख्यान-संज्वलन के उदय जन्य रागादि के अभाव के कारण अधिकाधिक अबंधक हैं। तथापि जितनी कषाय विद्यमान हैं, उस दृष्टि से वे अपने रागादि भाव के सद्भाव में बंधक हैं। ग्यारहवें बारहवें तेरहवें आदि गुणस्थानों में सर्वत्र रागोदय की अविद्यमानता में वह सर्वथा अबंधक है। प्रकृति प्रदेश मात्र बंध को यहां बंध नहीं कहा। यद्यपि इन गुणस्थानों में वह पाया जाता है तथापि उसकी अविवक्षा है।

इस प्रकार नय विवक्षा से उक्त विवेचन समझना चाहिए इसके पश्चात् इस ग्रंथ में आस्रव का विरोधी संवर है—इस बात के प्रतिपादनार्थ पांचवां—

संवर अधिकार

प्ररूपित है। इसमें आते हुए कर्म को (आस्रव को) रोकने का (संवर का) प्रबल कारण 'भेदविज्ञान' को बताया है। उपयोग ज्ञानात्मक है, वह क्रोधाद्यात्मक नहीं है। क्रोधादि क्रोधाद्यात्मक विकार ही हैं, वे ज्ञानात्मक नहीं है। इस मूल सिद्धांत को समझकर उपयोग स्वरूप शुद्धात्मा उपयोग ही करता है, क्रोधादि नहीं, अत: उसे आस्रव भी नहीं होता, संवर होता है।

अग्निगत सुवर्ण अपनी सुवर्णता को जैसे नहीं त्यागता, इसी प्रकार कर्मोदय से तप्य-मान होने पर भी सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष अपने ज्ञान भाव से विचलित नहीं होता, तब आस्रव कैसे होगा ? निश्चयनय से आत्मा के शुद्ध स्वभाव पर जिसकी दृष्टि है, वह शुद्धात्मा का ही आलंबन करता है—उसे ज्ञान मय भाव ही होते हैं —

जो ज्ञानी अपने को पुण्य-पाप रूप शुभाशुभ योगों से बचाकर, अपने ज्ञान दर्शन स्वभाव में ही स्थिर होता है, उससे च्युत नहीं होता, वह आस्रव से बचकर सर्वकर्म विनि-र्मुक्त हो जाता है ।

कषायाध्यवसान ही कर्मबंध के कारण हैं, वे आत्म स्वभाव नहीं, दोनो में भेद है । ऐसा भेद विज्ञान प्राप्त कर जिन्होंने प्रक्रिया द्वारा (चरित्र द्वारा) अपने को कषायादि से भिन्न कर लिया, वे ही सिद्धि को प्राप्त हुए हैं । तथा जो ऐसा नहीं कर सके वे संसार बंधन में बद्ध रहे हैं, हैं, और रहेंगे । इन विचारों का आलंबन कर जिन्होंने अपने को निरास्रव बनाया है, वे ही कर्मनिर्जरा के अधिकारी बनते हैं । इस बात का प्रतिपादन आचार्य श्री ने अग्रिम छठे अध्याय—

निर्जराधिकार

में किया है । इस अधिकार में यह प्रतिपादित है कि रागादि भाव रहित सम्यग्दृष्टि के उदय में आने वाले कर्म-योग बंधक न होने से निर्जरा के ही कारण है । उदयागत कर्म अपना फल देकर आत्मा से भिन्न ही तो होता हैं । ऐसे समय अज्ञानी (रागी) नवीन कर्मबंध कर लेता है, अतएव उसे उदयागत कर्म की निर्जरा से कोई लाभ नहीं है । उसे यहां "निर्जरा" शब्द से नहीं कहा । किन्तु ज्ञानी (विरागी) जीव कर्मों का उदय आने पर भी अपने ज्ञान स्वभाव में ही रत रहता है, उदय रूप भाव को प्राप्त नहीं होने से वह अबंधक रहता है । अतः उसके जो कर्म उदय में आकर खिरते है—निर्जरा होती है उस निर्जरा को यथार्थ निर्जरा कहते हैं ।

जहां यह लिखा गया है कि:—

"सम्यक्त्वी के भोग निर्जरा हेतु हैं"

वहां उक्त तात्पर्य ही समझना चाहिए । ज्ञानी अपने ज्ञान वैराग्य के बल से उदयागत कर्म

भोगते हुए भी नहीं भोगता। इसका कारण यह है कि सुख दुखादिका वेदन ज्ञान के आधार पर ही तो होता है, जब ज्ञानी अपना उपयोग कर्म के उदय जन्य सुख दुखादि पर न लगाकर अपने स्वरूप में ही लगाता है तब उसे 'उपभोग' संज्ञा ही नहीं दी सकती। इसी अभिप्राय से लिखा गया है कि—

"सम्यग्दृष्टि भोगते हुए भी नहीं भोगता"

कर्म निर्जरा का यही एकमात्र उपाय है। इसीलिये इस प्रकाश में आचार्य उपदेश करते है कि "तुम अपने इसी ज्ञानभाव में प्रीति करो, इसी में सन्तुष्ट होओ, नित्य इसी में स्थिर होओ, और इसी में तृप्ति का अनुभव करो, तुम्हें उत्तम सुख की प्राप्ति अवश्य होगी। इसके पश्चात् सातवां अधिकार है—

बन्ध-अधिकार

बंध के कारण रागादि विकारी भाव है। उनके होने पर अवश्य-बंध होता है और रागादि के न होने पर कर्मबंध नहीं होता।

मिथ्या दृष्टि जीव नाना प्रकार के कार्यों को करता हुआ अपने उपयोग को रागादिमय करता है, अतः बंधक होता है। रागादि अध्यवसान को ही अज्ञानभाव "बंधक-भाव" कहा गया है। उसके (कषायभाव के) सद्भावमें की गई क्रियाएँ बंधक कही जाती है और उसके अभाव में की गई क्रियाएँ अबंधक। जो क्रिया मात्र को बंधक कहते हैं उनका कथन युक्ति युक्त नहीं है। उदाहरण के लिए यहां बताया गया है कि—

"जो व्यक्ति ऐसा मानते हैं कि मै दूसरों की हिंसा करता हूं, या मैं दूसरों को प्राणदान देकर दया करता हूं। मै दूसरो को दुखी सुखी बनाता हूं अथवा मेरी हिंसा दूसरा कर सकता है, वह दया भी कर सकता है। मुझे दुखी सुखी कर सकता है"—तो यह मान्यता मिथ्या है।

कोई किसी को न मार सकता है, न जिला सकता है, न दुखी सुखी कर सकता है। प्रत्येक प्राणी अपनी आयु के उदय में जीते हैं, उसके क्षय से मरते हैं, अपने शुभाशुभ कर्मोदय से सुखी- दुखी होते हैं। ऐसी मान्यता ही सत्य है।

तथापि मैं पर को मारूं, उसे दुखी सुखी करूं, उसे जीवन दान दूं, ऐसी भावना प्राणी में उत्पन्न हो सकती है, और इन भावनाओं से वह अपने को पुण्य पाप से लिप्त करता है– बंधक होता है।

इसका यह विपरीतार्थ नहीं लेना चाहिए कि जीव को जब हम मार नहीं सकते तब हमें हिंसा का पाप ही क्यों लगेगा? यथार्थ में पाप उसके मरने पर नहीं है, तुम्हारे मारने के भाव पर निर्भर है। वह मरे या न मरे, आप मारने के परिणामों से पाप बंध करता तत्काल हो जाते हैं। मरण और दुख सुख तो उसे अपने कर्मोदय से प्राप्त होंगे। आप उसके कर्म के स्वामी नहीं हो सकते। अतः अपने को कषायाध्यावसान से बचाने वाला ही बंध से बचा सकेगा।

सारांश यह कि हिंसा पर की नहीं होती, हिंसा अपने दुष्परिणाम के कारण अपनी ही होती है। अपने स्वभाव का घात अपनी हिंसा है। निश्चयनय से आत्मा के यथार्थ प्राण उसके ज्ञान दर्शन ही हैं, न कि इन्द्रिय बल आयु आदि। ये तो व्यवहार में प्राण कहे जाते हैं। तब अपने ज्ञान दर्शन प्राणों का घात हम स्वयं रागी द्वेषी बन कर करते हैं। फलतः घात हमारा ही होता है, पर का नहीं। अतः स्वघाती होने से हम बंधक हैं।

मोक्ष–अधिकार

इसमें बताया है कि जो बंध के कारण और उनका स्वरूप जान कर अपनी आत्मा का यथार्थ स्वरूप पहिचान कर बंध भावों से विरक्त होता है, वही कर्मों से छूटता है। लक्षण भेद से बंध का स्वरूप और बंधरहित आत्मा का स्वरूप पहिचाना जा सकता है। अपनी प्रज्ञा से दोनों को पृथक् पृथक् जानकर बंध से विरक्त होना चाहिए। और अपना स्वरूप ग्रहण करना चाहिए।

आत्मा से भिन्न लक्षण वाले, भिन्न सत्ता वाले, जड़ स्वरूप-पौद्गलिक शरीरादि को व पंचेन्द्रिय के विषय भूत पदार्थों को कौन बुद्धिमान अपने कहेगा? पर द्रव्य से ममत्व करने वाला चोर कहलाता व बंधन में पड़ता है। वह सदा शंकित भी रहता है।

प्रतिक्रमणादि का करना जहां नीचली (अधस्तन) अवस्था में अमृत कुंभ कहा गया है, वहीं ऊपरी (उपरिम) दशा में प्रति क्रमण की स्थिति का आना ही विषकुम्भ कहा गया हैं। ज्ञानी की दशा तो निर्दोष ही रहनी चाहिए। प्रतिक्रमण तो "अपराध की स्थिति हैं"

ऐसी सूचना देता है। अतः यदि उच्च दशा प्राप्त पवित्र पुरुष को प्रतिक्रमण करना पड़ता है, तो उसके लिए वह लज्जा का ही विषय है। कारण कि निरपराधी क्यों प्रतिक्रमण करेगा?

सर्व विशुद्ध ज्ञानाधिकार

इस अधिकार में यह बताया गया है कि आत्मा का कर्म के साथ निमित्त नैमित्तिक भाव है, कर्तृ कर्मभाव नहीं है। निमित्त नैमित्तिक भाव के कारण ही बंध कहा जाता है। और व्यवहार से इसे कर्तृ कर्म संबंध भी कहते हैं। पर परमार्थ में कर्तृ कर्म भाव नहीं है। कर्तृत्व के अभाव में वह भोक्ता भी नहीं है।

ज्ञानी कर्म का न, कर्ता है, न भोक्ता है। वह केवल उनका ज्ञायक है। इसी प्रकार 'कर्म जीव को अज्ञानी रागी द्वेषी करता है'—यह मान्यता भी सिद्धांत विरुद्ध है। जीव की ही अज्ञान मय परणति है। अतः अपनी परणति का यथार्थ कर्ता वही है, भले ही उसमें कर्म का निमित्त है। इसी प्रकार पुद्गल वर्गणाएँ कर्म प्रकृति रूप भले ही जीव के रागादि परिणाम के निमित्त से होती है पर उसका यथार्थ कर्ता पुद्गल द्रव्य ही है, जीव नहीं, । दोनों का एक दूसरे की परणति में मात्र निमित्त नैमित्तिकता है। यथार्थ कर्ता अपने कार्य से तन्मय होता है। जीव कर्म की पर्याय से और कर्म जीव की पर्याय से तन्मय नहीं होता। व्यवहार में कर्त्ताकर्म भिन्न होते हैं, निश्चय में कर्त्ताकर्म भाव विभिन्न पदार्थों में नहीं होता।

जीव में रागादि भाव होते है, उसमें पर द्रव्य का अपराध नहीं है, वह जीव स्वयं अपने अज्ञान से रागादि रूप परिणमन करता है। अतः स्वयं अपराधी है। जिनकी दृष्टि केवल पर कर्तृत्व पर है, वे मोहवाहिनी को नहीं तर सकते।

रागोत्पत्ति में रूपवान रसवान आदि पदार्थों को दोष नहीं दिया जा सकता; क्योंकि वे जीव से यह नहीं कहते कि तुम हमें भोगो। जीव अपने अज्ञान से उन्हें स्वयं स्वीकार करता है, अतः यथार्थ में वह स्वयं अपराधी है।

इसी प्रकरण में प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान, आलोचना का स्वरूप प्रतिपादन किया गया है। कृत कारित अनुमोदना, मन-वचन, काय, आदि के निमित्त से तीनों के 49-49 भंगकर उन दोषों से छूटने की प्रक्रिया बतलाई है। जिससे जीव अपराधों से मुक्त होकर विशुद्ध बने।

अन्त में सकल कर्म सन्यास भावना का प्रतिपादन किया गया है । अपनी अचल शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा का आत्मा में ही संचेतन करना 'सकल कर्म सन्यास' भावना है। सकल पर द्रव्यों से भिन्न सकल विकृत भावों से रहित 'शुद्धात्मा' है, ऐसा दरसाया गया है।

मोक्ष का मार्ग लिंग (भेष) में नहीं, रत्नत्रय में है । आत्मा को रत्नत्रय में स्थिर करो, उसका ही ध्यान करो, उसीमें विहार करो। अन्य द्रव्य और बातो की ओर ध्यान न दो। यही आत्मा के सर्व विशुद्ध होने का मार्ग है । अन्त में आचार्य श्री कुन्दकुन्द स्वामी ने ग्रन्थ मे प्रतिपादित विषय की महत्ता का प्रदर्शन किया है।

टीकाकार श्री अमृतचन्द्र स्वामी ने ग्रंथ के अन्त में "स्याद्वादाधिकार" विशेष रूप में लिखा है। जिसमें अनेकान्त के प्रयोग की समस्त प्रक्रिया बताई गई है । सत्व-असत्व, नित्यत्व- अनित्यत्व, एकत्व-अनेकत्व आदि परस्पर विरोधी धर्मों की अविरुद्धता अनेकान्त द्वारा प्रतिपादित है।

यह ग्रंथराज जिस विषय का प्रतिपादन करता है वह तत्व व्यवस्था का यथार्थ चित्रण है। इससे आत्मा को परम सन्तोष होता है। तत्वज्ञान ही शान्ति का अमोघ उपाय है इसमें सन्देह नहीं। अतः आत्म शान्ति के लिए अध्यात्म शास्त्र का बहुत बड़ा उपयोग है ।

ग्रन्थ की प्रामाणिकता एवं परम्परा

अंतिम तीर्थंकर परमभट्टारक देवाधिदेव भगवान् महावीर चतुर्थ काल के अन्त में निर्वाण को प्राप्त हुए। वर्तमान काल में उनका ही तीर्थकाल चल रहा है। वे सर्वज्ञ सर्वदर्शी पर । वीतराग थे, अतः उनका उपदेश अत्यन्त प्रामाणिक था। उनके उपदेशानुसार उनके मुक्ति गमन के पश्चात् क्रमशः गौतम, सुधर्माचार्य, जंबूस्वामी ये ३ केवली तथा उसी पट्ट पर ५ श्रुतकेवली, ग्यारह एकादशांगधारी, पांच दशपूर्वधारी, पश्चात् दस, आठ आदि अंगधारी ऐसे अनेक मुनिराज भगवान् के उपदेश की परम्परा को आगे बढ़ानेवाले हुए हैं ।

यद्यपि इस काल में केवली, श्रुतकेवली, अंगपूर्णधारी अन्य अनेक आचार्य भी हुए हैं, तथापि भगवान् के पश्चात् जो संघ था, उसके अधिनायक पद पर ६८३ वर्ष में उक्त आचार्य ही उक्त पदों पर प्रतिष्ठित ज्ञानी हुए हैं। तिलोयणपण्णत्ती में निम्न पद्य है —

जादो सिद्धो वीरो तद्दिवसे गौतमो परमणाणी ।
जादो तस्सि सिद्धे, सुधम्मसामी तदो जादो ॥१४७६॥
तम्हि कद कम्मणासे, जबूसामित्ति केवली जादो।
तम्हि सिद्धि पवण्णे केवलियो णत्थि अणुबद्धा ॥१४७७॥

साराश यह कि वीरनाथ के निर्वाण होनेपर उसी दिन गौतम परमज्ञानी (केवलज्ञानी) हुए। उनके निर्वाण होने पर सुधर्मस्वामी (संघ नायक) हुए तथा परमज्ञानी हुए। जब वे कर्म नाशकर निर्वाण गए तब जंबूस्वामी (संघ नायक) केवली हुए। इस तरह पट्ट-परपरा से अनुबद्ध केवली हुए। इसके बाद पट्टाचार्यों में अनुबद्ध केवली नहीं हुए। पर अननुबद्ध केवली और भी हुए हैं यह नीचे पद्यों से ध्वनित है। देखिये---

आगे तिलोयपण्णत्ती मे निम्न पद्य हैं:---

वासट्ठि वासाणि, गौतमपहुदीण णाणवंताणं ।
धम्मपवट्टण कालं, परिमाणं पिण्डरूवेण ॥१४७८॥
कुंडलगिरिम्मि चरिमो, केवलणाणीसु सिरिधरो सिद्धो।
चारण रिसीसु चरिमो, सुपासचंदाभिधाणोय ॥१४७९॥

इसका अर्थ यह है कि भगवान् श्री महावीर के पश्चात बासठ वर्ष गौतमादि ज्ञानियों (केवल ज्ञानियों) का समुदाय रूप से धर्म प्रवर्तन काल है। किन्तु केवल ज्ञानियों में अन्तिम केवली श्री "श्रीधर" कुंडरगिरि* से निर्वाण को प्राप्त हुए। तथा चारण ऋद्धि के धारग करनेवाले ऋषीश्वरो में अन्तिम ऋषीश्वर सुपासचन्द्र (सुपार्श्वचन्द्र) नाम के हुए।

इस प्रमाण से ३ केवली ही नहीं हुए। भगवान् के संघ के अधिनायक मुख्याचार्य जो २ पट्ट पर बैठे उनमें ३ आचार्य केवली हुए हैं। इनके सिवाय जो पट्टासीन नहीं हुए ऐसे अनेक केवली थे उनमें अन्तिम केवली श्री श्रीधर स्वामी निर्वाण को प्राप्त हुए।

टिप्पणी :---*कुंडलाकार पर्वत कुंडरगिरि कुण्डलपुर क्षेत्र के नाम से प्रसिद्ध मध्यप्रदेश के दमोह जिले में दमोह से २० मील पर ५९ जिनालयों सहित सुरम्य क्षेत्र है यहां पर श्री १०८ श्रीधर केवली के प्राचीन चरण भी स्थापित हैं।

इन ६८३ वर्षों तक गुरुपरम्परा अविच्छिन्न रूप से चलती रही है अतः इतना वर्णन तो अनेक ग्रंथों में पाया जाता है। इसके बाद का नहीं पाया जाता, तथापि कुछ प्रमाणों से इस बात पर प्रकाश पड़ता है कि अन्तिम श्री लोहाचार्य संभवतः अपने पट्ट पर किसी आचार्य को स्थापित नहीं कर सके होंगे अतः लोहाचार्य के गुरु श्री यशोबाहु, जिनको अन्यत्र द्वितीय (भद्रबाहु) भी लिखा है, के अन्यतम शिष्य अर्हद्बलि (लोहाचार्य के गुरुभ्राता) पर आगे संघ व्यवस्था का भार स्वतः आया होगा। अर्हद्बलि के शिष्य माघनंदि इनके बाद पट्टावली में जिनचंद्र और उनके पट्ट पर श्री कुंदकुंदाचार्य हुए, ऐसा उल्लेख है।

अभिप्राय यह है कि वीर प्रभु की परम्परा से श्री कुन्दकुन्दाचार्य को श्रुतोपदेश अविच्छिन्न धारा से प्राप्त था अतः उनके उपदेश को अत्यन्त प्रामाणिकता प्राप्त है। भगवान् कुंदकुंदाचार्य के महाविदेह क्षेत्र में श्री १००८ सीमंधर तीर्थंकर प्रभु के समय शरण में जाकर उपदेश सुनने का भी वर्णन दर्शनसार ग्रंथ में आया है इससे भी इनके ज्ञान की विशदता तथा प्रामाणिकता नितान्त स्पष्ट है।

नियमसार के प्रारंभ में श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने जो मंगलाचरण किया है उसमें लिखा है :—

णमिऊण जिणं वीरं अणन्त वरणाणदंसण सहावम्।
वोच्छामि णियमसारं केवलिसुदकेवली भणियम्॥

अर्थात् श्री वीरनाथप्रभु जो अनन्त ज्ञान दर्शन स्वभावी हैं उनकी वन्दना करके मैं केवली तथा श्रुतकेवली द्वारा कथित नियमसार को कह रहा हूं।

यहाँ "केवली श्रुत केवली" कथित शब्द से भी ऐसी ध्वनि निकलती है कि संभवतः उन्होंने केवली श्रुत केवली के मुखारविंद से धर्मोपदेश पाया हो।

यह समयसार या समयप्राभृत ग्रंथ इनही श्री १०८ आचार्य कुन्दकुन्द की कृति है। मूल ग्रंथ प्राकृत भाषा में गाथा निबद्ध है। ग्रंथ की संस्कृत टीका श्री १०८ अमृतचन्द्राचार्य ने की है, जो भाषा और भाव की दृष्टि से असाधारण है। टीका का नाम "आत्म-ख्याति" भी बड़ा सुन्दर एवं ग्रंथानुरूप है। इसी पर श्री पं. जयचन्द्रजी सा. ने "आत्म-ख्याति समयसार" नामक हिंदी अनुवाद बहुत बारीकी के साथ किया है। दूसरी संस्कृत टीका श्री १०८ जयसेनाचार्य कृत तात्पर्यवृत्ति नामा है, जो भाव एवं भाषा की दृष्टि से सरल और विस्तृत है।

पं. जयचन्द्रजी संस्कृत भाषा के निष्णात विद्वान थे। उनकी टीका संस्कृत टीका का शुद्ध अनुवाद है साथ ही भावार्थ भी है। अभी तक की छपी हिंदी टीकाएँ केवल उनकी टीका का ही भाषा की दृष्टि से परिमार्जन मात्र है। उससे सुन्दर कोई स्वतंत्र टीका नहीं लिखी गई।

भगवान् कुंदकुंद की वाणी कितनी लोकप्रिय एवं प्रामाणिक सिद्ध हुई है, इसका इतिहास साक्षी है। सदियों पूर्व पं. बनारसीदासजी ने स्वयं समयसार के कलशों पर "समयसार नाटक" छन्दबद्ध किया है, साथ ही अपने आत्म चरित्र में यह भी लिखा है कि हमारी एक शैली थी जिसमें अनेक विद्वान् इसका पारायण करते थे।

प्रारंभ में इसका स्वाध्याय कर पंडितजी अपने को शुद्धबुद्ध मानकर संपूर्ण धर्मकर्म से बहिर्मुख हो गए थे, उन्होंने अपनी दुर्दशा का स्वयं आत्मचरित्र में चित्रण किया है, तथापि जब वस्तु को ठीक समझा तो स्वयं मार्ग पर लगे और दूसरों को लगाया। पंडित प्रवर तोडरमलजी ने भी इस ग्रंथ ा गहन अध्ययन किया था जिसकी छाप "मोक्षमार्ग प्रकाश" नामक उनके ग्रंथराज पर स्पष्ट दिखाई देती है।

वर्तमान युग में 'समयसार' के अध्येता कारंजा (बरार) के भट्टारक थे, पर उनका अध्ययन ग्रंथ को पढकर वेदान्त की ओर झुका हुआ था। मेरे पिता ब्र. गोकुलप्रसादजी, ब्र. शीतलप्रसादजी, पूज्यवर्णी श्री गणेशप्रसादजी श्रीमंत सेठ गोपालसावजी सिवनी, जिन्होंने समयसार पर स्वतंत्र प्रवचन लिखा है, श्री पद्युम्नसावजी कारंजी आदि अनेक अध्यात्मरस के रसिक मेरे परिचय में आए हैं।

श्री क्षुल्लक कर्मानन्दजी ने भी समयसार की गाथाओं का अर्थ लिखा है। पूज्य श्री १०५ क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी द्वारा लिखित समयसार प्रवचन श्रीवर्णी ग्रंथमाला द्वारा अभी प्रकाशित हुआ है। पूज्यवर्णीजी इस युग की महान् विभूति थे सारा जीवन अध्यात्म के अध्ययन में ही व्यतीत हुआ है। हजारों व्यक्तियों ने उनके द्वारा धर्म लाभ लिया है। श्री १०८ दिगम्बर मुनिराज ज्ञानसागरजी ने भी समयसार की तात्पर्य-वृत्ति पर सुन्दर टीका लिखी है, जो अभी अभी प्रकाश में आई है।

श्री कानजी स्वामी सोनगढ़, श्री रामजी भाई, श्री खेमजीभाई आदि उनकी शिष्य-मंडली भी इस युग में समयसार के विशिष्ट अध्येता हैं। श्री कानजी स्वामी ने उक्त ग्रंथराज के प्रभाव से ही अपनी पूर्व श्वेताम्बर तेरहपंथी आम्नाय की साधुत्व अवस्था तथा

प्रतिष्ठा का परित्याग कर न केवल स्वयं को, किन्तु अपने अनुयायी अन्य हजारों बंधुओं को शुद्ध दिगम्बर जैन धर्म का प्रसाद देकर आत्म-कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया है। इन्होंने समयसार पर अपने स्वतंत्र प्रवचन भी लिखे हैं एवं यत्र-तत्र भ्रमण कर समयसार पर ही प्रवचनकर उसका प्रचार-प्रसार भी किया है। दिगम्बर जैन समाज में जो जगह २ स्वाध्याय की (प्रायः बद सी) प्रवृत्ति एव जागृति दिख रही है वह इसीका परिणाम है।

उक्त स्वामीजी संभवतः आज भी समयसार का १७ वीं या अठारहवीं बार स्वाध्याय कर रहे है। वर्तमान युग के अधिकांश विद्वानों ने उनके उदयकाल के बाद ही अध्यात्म का अध्ययन प्रारंभ किया है। आज साधारण व्यक्ति भी स्वाध्याय में 'समयसार' ही उठाता है। ग्रंथ का यह सद प्रचार देखकर प्रसन्नता होती है। तथापि यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि अध्यात्म को पचाने की शक्ति हर स्तर के व्यक्ति में नहीं हुआ करती। उसके लिये स्याद्वाद नीति के नय विवेचन का परिज्ञान होना नितांत आवश्यक है। इसके बिना मार्ग बिगड़ सकता है। इस परिपुष्ट आहार को पचाने वाला सामर्थ्यवान् होना चाहिए।

इस तथ्य का अनुभव कर ही इन्दौर नगरी के प्रख्यात विद्वान् (पूर्व में मुंगावली (ग्वालियर निवासी) श्री पं. नाथूरामजी न्यायतीर्थ ने (जो अपने पूर्वजो के मध्यप्रदेश के डोंगरा ग्राम के वासी होने से "डोंगरीय" उपनाम से समाज में प्रसिद्ध हैं और जिन्होंने पूर्व में जैनधर्म, आदि कई पुस्तकें लिखी हैं) समयसार का यह आधुनिक राष्ट्रीय भाषा हिन्दी के पद्यों में निर्माण का प्रयास कर इसे "समयसार वैभव" के नाम से प्रस्तुत किया है। इस ग्रथ में उन्होंने 'जैनी नीति' (स्याद्वाद) को ध्यान में रखकर ही वस्तु विवेचन किया है। अनेक स्थलों पर, जहां प्रायः यह संभावना दिखी कि इसे पढ़कर पाठकों की कुछ गलत धारणा हो सकती है, ग्रंथ के हार्द को खोलने का पूर्ण प्रयास किया है। रचना सुन्दर है और पंडितजी का यह प्रयास स्तुत्य है। ग्रथ पाठकों के सामने है। आशा है वे इससे लाभान्वित होंगे।

कटनी,
२१-१-१९७०

जगन्मोहनलाल जैन शास्त्री

विषयानुक्रमणिका

कर्त्ता-कर्म अधिकार

पुण्यपापाधिकार

बन्धाधिकार

मोक्षाधिकार

सर्व विशुद्ध ज्ञान अधिकार

ॐ नम सिध्देभ्य.

समयसार-वैभव

(आध्यात्मिक काव्य)

मूलकर्ता–

श्रीमद्भगवत्कुंदकुंदाचार्य

अनुसर्त्ता–

नाथूराम डोंगरीय जैन

—

जीवाजीवाधिकार

(१)

मगलाचरण एव ग्रन्थकर्त्ता की प्रतिज्ञा

अनुपम, अचल, अमल, अविनश्वर-गतिसंप्राप्त, सहज अभिराम,
मंगलमय, भगवन् महामहिम-सिद्ध–वंदना कर निष्काम—
श्रुतकेवलि-प्रतिपादित, पावन, परंज्योति, विज्ञाननिधान–
"समयसार–वैभव" दरशाऊँ–मोह महातम नाशन भान।

(1) अचल–परिभ्रमण रहित। प्रतिपादित–कथित। भान–सूर्य।

(२)

समय का स्पष्टीकरण--लक्षण व भेद

'समय' जीव चैतन्यमयी है--सुख सत्ता सम्पन्न ललाम।
इसके स्व-पर भेद इसकी ही परणतियों का है परिणाम।
'स्वसमय' जीव वही--जो सम्यक्दर्शन ज्ञान चरण में लीन।
रागद्वेष मोहादि विकृति--रत जीववृन्द 'परसमय' मलीन।

(३)

स्व-पर समय की वास्तविकता

एक, शुद्ध, निश्चयगत, शाश्वत आत्मतत्व अनुपम अभिराम,
पावन है सर्वत्र लोक में इसकी स्वाश्रित कथा ललाम।
जीव-कर्मबन्धन की गाथा, विसंवाद करती उत्पन्न।
पर समयाश्रित भेद तत्वतः इससे ही होता निष्पन्न।

(४)

ससारी जीव की दशा

मोह पिशाच ग्रसित उलझे हैं, भवकुचक्र में जीव अनंत।
काम भोग की बंध कथायें सुनें चाव से नित हा! हन्त!!
तन्मय हो रम रहे उन्हीं में मत्त दन्तिवत् विसर स्वरूप।
कभी शुद्ध चैतन्य न जाना, सुना न अनुभव किया अनूप।

---

(2) संपन्न--युक्त। ललाम--सुन्दर। परिणति--शुद्ध-अशुद्ध भाव रूप परिणमन। परिणाम--फल। विकृति--विकार। वृन्द--समूह। (3) शुद्ध--पर से भिन्न। स्वाश्रित--आत्मा पर आधारित। निष्पन्न--सिद्ध। (4) ग्रसित--पीड़ित। हंत--अफसोस। मत्तदन्ति--मतवाला हाथी। विसर--भूलकर।

(५)

ग्रंथकर्त्ता का संकल्प

भव भ्रमणा में नानारूपों को धारण कर वर चिद्रूप-
भिन्न भिन्न प्रतिभासित होता, उसे एक अविभक्तस्वरूप-
दर्शाता हूँ—युक्त्यागम, गुरु—ज्ञान, स्वानुभव-विभव प्रमाण ।
दरशजाय—करलें प्रमाण, पर चूकजन्य छल ग्रहें न जान ।

(६/१)

शुद्ध नय से आत्म स्वभाव प्रदर्शन

स्वतः सिद्ध अनुपम अनादि से अंतहीन जो ज्ञायक भाव ।
वही शुद्ध नय की सुदृष्टि से कहा आत्म का शुद्ध स्वभाव ।
वह प्रमत्त—अप्रमत्त नहीं, ये हैं सब कर्मजन्य परिणाम ।
निर्विकल्प चिज्ज्योति स्वानुभव-गम्य, रम्य, वह वही ललाम ।

(६/२)

यहाँ आत्मा को शुद्ध किस दृष्टि से कहा गया ?

आत्म शुद्ध कहने का केवल अभिप्राय यह यहाँ प्रवीण !
अन्य सकल परद्रव्य भाव से चेतन की सत्ता स्वाधीन ।
वर्तमान में यह न समझना-हम पर्यायदृष्टि भी शुद्ध ।
जीवन में रागादि विकृति के रहते आत्म न शुद्ध, न बुद्ध ।

---

(5) चिद्रूप—आत्मा । प्रतिभासित—प्रतीत । अविभक्त—भेद रहित । युक्त्यागम—युक्ति—आगम, तर्क एवं आप्त वचन । (6/1) प्रमत्त—कषायवान । चिज्ज्योति—चैतन्य ज्योति । रम्य—रमण करने योग्य (6/2) सत्ता—अस्तित्व ; बुद्ध—ज्ञानी ।

(६/३)

शुद्ध नय का प्रयोजन

जीव मात्र में विद्यमान है शक्ति अमित अव्यक्त महान।
यदि पुरुषार्थ करें बन जायें हम सब स्वयं सिद्ध भगवान।
इस स्वशक्ति का बोध कराना ही अभीष्ट है यहाँ प्रवीण !
यत्प्रसाद अमरत्व प्राप्त कर आत्म बने सुस्थिर स्वाधीन।

(७)

व्यवहार एव शुद्ध नय मे दृष्टि भेद

एक अखंड वस्तु में नाना गुण पर्यय का कर निर्धार।
भेद रूप प्रतिपादन करता वह नय कहलाता व्यवहार।
गुरु, इस नय ज्ञानी के करते दर्शन, ज्ञान, चरण, व्यपदेश।
शुद्ध दृष्टि ज्ञायक ही पाती, दर्शनादि का भेद न लेश।

(८)

व्यवहार नय की उपयोगिता

ज्यों अनार्य समझें न बात-बिन लिये म्लेक्ष भाषा आधार,
त्यों व्यवहार बिना नहि समझें जन परमार्थ तत्व अविकार,
एक शुद्ध ज्ञायक स्वभाव की जिन्हें भ्रांतिवश नहि पहिचान,
उन्हें ज्ञान दर्शन प्रभेद कर श्री गुरु दें वर तत्वज्ञान।

(6/3) अमित असीम, अनंत। अव्यक्त—अप्रकट। यत्प्रसाद—जिसके प्रसाद से। अमरत्व—अमरता। सुस्थिर—परिभ्रमण—रहित (7) निर्धार—निश्चय। व्यपदेश—गुण-भेद कथन। शुद्धदृष्टि—शुद्धनय (8) अनार्य—म्लेक्ष। परमार्थ—शुध्दात्म।

(९)

व्यवहार द्वारा निश्चय में प्रवेश

द्रव्य–भाव द्वारा विभक्त है दो भागों में सब श्रुतज्ञान ।
प्रथम भावश्रुत स्वानुभूति से निज शुद्धात्म तत्व पहिचान-
ज्ञानी बना, उसे कहते हैं ऋषिगण श्रुतकेवलिभगवान् ।
इस प्रकार गुण-गुणी भेद कर तत्व किया विज्ञप्त महान ।

(१०)

अथवा जो परिपूर्ण द्रव्य श्रुत ज्ञान बना तत्वज्ञ महान ।
देव उसे प्रतिपादन करते श्रुतकेवलि श्रुतज्ञान निधान ।
यों अभेद में भेद दिखाकर किया 'ज्ञान-ज्ञानी' व्यपदेश ।
इस व्यवहार कथन से होता भेद द्वार परमार्थ प्रवेश ।

(११/१)

शुद्ध एवं व्यवहार नय की स्थिति

वर्णित है भूतार्थ शुद्धनय, अभूतार्थ है नय व्यवहार ।
शुद्ध वस्तु है अर्थ 'भूत' का, पर्यायादि 'अभूत' विचार ।
मुग्ध दशा में रहता प्राय: पर्यायाश्रित जन मतिभ्रांत ।
शुद्ध दृष्टि पाकर विरला ही बनता सम्यक्दृष्टि नितांत ।

(9) विभक्त–विभाजित । स्वानुभूति–स्वानुभव । विज्ञप्त–प्रकट-प्रसिद्ध । (10) प्रतिपादन–कथन (11/1) मुग्ध–मोहमयी । पर्यायाश्रित–पर्याय दृष्टि वाला । शुद्ध दृष्टि–शुद्धात्म दृष्टि ।

(११/२)

निश्चय नय के भेद

अभूतार्थ–भूतार्थ भेद से निश्चय नय है उभय प्रकार–
अभूतार्थ निश्चय अशुद्ध है, पर भूतार्थ शुद्धनय सार।
जिसकी त्रैकालिक स्वभाव पर दृष्टि वही निश्चय भूतार्थ।
जीव मलिन कहकर विभाव से अभूतार्थ होता चरितार्थ।

(११/३)

व्यवहार नय के भेद

भूतार्थाभूतार्थ भेद से दो प्रकार त्यों नय व्यवहार।
सद्गुण–पर्यायाश्रित पहिला अभूतार्थ तद्भिन्न विचार।
ज्ञान दर्श गुण भेद कथन ही है भूतार्थ प्रथम व्यवहार।
नर नारक रागादि जीव के कहता अभूतार्थ व्यवहार।

(११/४)

उपचरित नय का स्वरूप व दृष्टांत

इनसे भिन्न उपचरित भी इक नय कहलाता है व्यवहार।
जो कि वस्तु के गुण तदन्य में आरोपित करता हर बार।
घी का घड़ा–तैल का चूड़ा–रूपी जीव आदि दृष्टांत–
हैं उपलब्ध लोक में अगणित, जिनमें है उपचार नितांत।

(11/2) उभय–दो। विभाव–राग द्वेषादि विकार। चरितार्थ–घटित। (11/3) सद्गुण–शुद्धगण। तद्भिन्न–उससे भिन्न। (11/4) तदन्य–उससे भिन्न। आरोपित–स्थापित।

(११/५)

उपचरित नय की स्थिति एव प्रयोजन

इस उपचरित नयाश्रित प्रायः चलता सकल लोक व्यवहार ।
जो कि निमित्त प्रधान दृष्टि है, तत्व नहीं इसमें अविकार।
सत्य मान परिपूर्ण इसे सब लोक भ्रमित हो रहा, प्रवीण !
किन्तु अज्ञ प्रति बोध हेतु ही यह भी आश्रयणीय मलीन।

(११/६)

यथार्थ बोध के लिये नय ज्ञान की आवश्यकता

परमागम में तत्व विवेचन--सर्वनयों से कर अम्लान--
भव्य जीव प्रति बोध दिया है, यहाँ सुनिश्चय दृष्टि प्रधान।
नय स्वरूप समझे विन भ्रमतम-मिटै-न--होता सम्यक्ज्ञान;
अतः बंधु ! मध्यस्थभाव से तत्व समझना ही श्रेयान्।

(१२/१)

व्यवहार नय का प्रयोजन एव पात्रता

शुद्ध आत्म की हुई न जबतक, जीवन में उपलब्धि महान--
अपरम भावाश्रित जन हित नित नय व्यवहार प्रयोजनवान्।
जो कि द्रव्य में गुण पर्यय गत भेद व्यवस्था कर अम्लान--
प्रथम भूमिका संस्थित जन को करता सम्यक्दृष्टि प्रदान।

---

(11) अम्लान--निर्दोष (12/1) अपरमभावाश्रित जन--सविकल्प दशा में स्थित जीव।

(१२/२)

निश्चय नय के आश्रय का पात्र कौन ?

जो जन परमभावदर्शी बन करता चिदानन्द रस पान—
निश्चय का सत्पात्र वही जो स्वाश्रय ले करता कल्याण।
जब जन शुद्ध भाव संश्रय पा स्वानुभूति में रहता लीन।
उसे प्रयोजनवान् स्वतः नहिं रहता नय व्यवहार, प्रवीण!

(१२/३)

अभिप्राय यह है कि शुद्ध नय का आश्रय लें साधु प्रवीण
आत्म साधना निरत सतत जो परमभाव दर्शन में लीन।
स्वर्ण पात्र संधारण करता दुग्ध सिंहनी का अविकार।
कांस्य पात्र में टिक न सके वह, खंड खंड हों पड़ते धार।

(१२/४)

जिन शासन में सापेक्ष नय ही सम्यक्ज्ञान के प्रतीक हैं

निश्चय या व्यवहार दृष्टियाँ समीचीन रहतीं सापेक्ष—
स्वपर विषय को मुख्य गौण कर; किन्तु असत्य वही निरपेक्ष।
क्योंकि न गुण- पर्यय से होता शून्य कभी कोई भी द्रव्य।
और न गुण पर्याय कभी भी विना द्रव्य रहते हैं लभ्य।

(12/2) परमभावदर्शी—शुद्धात्मतत्व दृष्टा—शुद्धोपयोगी-अभेद रूप रत्नत्रयलीन।

(12/4) समीचीन—सत्य-यथार्थ। सापेक्ष—अपेक्षा रखते हुए। निरपेक्ष—दूसरे नय की अपेक्षा न रखते हुए। लभ्य—प्राप्त। पर्यय—पर्याय, दशा।

(१२/४)

निश्चय-व्यवहार में दृष्टि भेद

जब अखंड ध्रुव द्रव्य लक्ष्य में रहता, तब हो जाता गौण–
गुण पर्यय का भेद सहज ही; किन्तु नष्ट कर सकता कौन ?
निश्चय नय की दृष्टि निराली, जहाँ भेद रहता नहि इष्ट ।
गुण पर्ययगत भेद व्यवस्था करता नय व्यवहार विशिष्ट ।

(१३)

तत्व व्यवहार द्वारा सम्यक्त्व संप्राप्ति

तीर्थ प्रवृत्ति हेतु प्रतिपादित, जीव, अजीव पुण्य अरु पाप––
आस्रव, संवर, बंधन, निर्जर और मोक्ष नवतत्व कलाप ।
इनमें इक चेतन ही, पुद्गल सँग अभिनय कर रहा, निदान–
तत्वों में भूतार्थदृष्टि यह कहलाता सम्यक्त्व महान् ।

(१४/१)

शुद्ध नय का स्वरूप

वही शुद्ध नय जो अबद्ध, अस्पर्श कर्म से वर चिद्रूप––
अनुभव करता नाना रूपों में अनन्य परमात्म स्वरूप ।
हानिवृद्धि से रहित आत्म को देखे, नियत और अविशेष ।
राग द्वेष मोहादि विकृति से असंयुक्त पाता निःशेष ।

---

(13) तीर्थप्रवृत्ति–हेतु–धर्म तीर्थ को चलाने के लिये । कलाप–समूह । भूतार्थ दृष्टि–शुद्धात्म द्रव्य पर अभेद दृष्टि । (14/1) अबद्ध–स्वतंत्र । अस्पर्श–अछूता । अनन्य–अभिन्न-अभेद रूप । नियत–स्थिर । अविशेष–गुणों के भेद से रहित (अखंड) असंयुक्त–शुद्ध, मोहादि से रहित । उदधि–समुद्र । अंतर्द्धान–गायब, दृष्टि के ओझल ।

(१४/२)

दृष्टांतों द्वारा इसी का स्पष्टीकरण

कमल पत्र ज्यों जल में रहता नित अबद्ध अस्पर्शस्वभाव ;
घट कपाल में मृद् अनन्य ज्यों जल में है उष्णत्व विभाव।
उठते हैं तूफान उदधि में, पर वह रहता नियत महान।
स्वर्ण दृष्टि में वर्णादिक सब ही जाते ज्यों अंतर्द्धान ।

(१५/१)

जिन शासन का ज्ञाता कौन ?

शुद्ध दृष्टि से त्यों निजात्म को कर्म बन्धन स्पर्शविहीन
जो अनन्य अविशेष विलोके असंयुक्त रागादिक हीन ।
द्रव्य-भाव श्रुत से अनुभावित जिसे शुद्ध चिद्रूप अनूप।
वही पूर्ण जिन शासन ज्ञाता—दृष्टा है अनुभवरस कूप ।

(१५/२)

निश्चय नय की विशेषता

निश्चय नय की दृष्टि निराली चतुर जौहरी वत् अम्लान।
समल स्वर्ण में भी जो करती शुद्धस्वर्ण की वर पहिचान ।
यह इंगित करती—स्वभावतः जीवमात्र है सिद्ध समान ।
पद परमात्म प्राप्त करने की रखते हम सामर्थ्य महान ।

(15/1) अनुभावित—अनुभव में आया हुआ। कूप—कुआ। (15/2) इंगित—इशारा। सामर्थ्य—शक्ति।

(१५/३)

परमात्मा कौन बनता है ?

जो मिथ्यात्व ध्वस्त कर पावन ज्ञान प्राप्त, बन निज रसलीन ।
कर्म कलंक पंक से होता मुक्त वही सत्पात्र, प्रवीण !
रागद्वेष बिन छूटे स्वात्म को सर्वदृष्टि परमात्म स्वरूप--
यदि माना एकान्त ग्रहणकर, ग्रात्मवंचना यह विषकूप ।

(१५/४)

यथा भिक्षु मन में चक्री बन सिंहासन पर हो ग्रासीन--
शासन करने लगा, किन्तु थी उसकी दशा वही ग्रतिदीन ।
तथा निश्चयाभास विवश जो ग्रात्मशुद्ध कह सिद्ध समान --
बन स्वच्छन्द विचरण करता वह संसृतिका ही पात्र ग्रजान ।

(१६)

व्यवहार एवं निश्चय मोक्षमार्ग में नाम मात्र कथन का भेद

ग्रात्मसिद्धि हित साधुजनों को दर्शन ज्ञान चरित्र महान--
सद्गुण नित उपासना करने योग्य कहे केवलि भगवान् ।
निश्चय से ये चिद्विलास हैं, ग्रतः ग्रात्म ही हैं साकार ।
साधन साध्य विवक्षा में त्रयरूप ग्रात्म का है व्यवहार ।

(15/4) संसृति--संसार । अजान--अज्ञान । (16) चिद्विलास--चैतन्य की लीलाएं या क्रीड़ाएं अथवा गुण विशेषताएं । साकार--साक्षात् ।

(१७)

व्यवहार मोक्ष मार्ग का दृष्टांत

धन का इच्छुक व्यक्ति प्रथम ज्यों राजा को सम्यक् पहिचान ।
राज्य पाट, वैभव, विलास लख उस पर करता दृढ़ श्रद्धान ।
फिर तन्मय हो सेवा कर वह रखता सतत प्रसन्न सयत्न ।
बन जाता है धनी इसी से पाकर धरा, धाम, धन, रत्न ।

(१८)

दृष्टांत

त्यों तजकर मति मोह मुक्ति की करें कामना जो मतिमान ।
उन्हे उचित चिद्रूप भूप को करना प्रथम सही पहिचान ।
फिर श्रद्धा रत रमें उसी में कर वर चिदानंद रस पान ।
उन्हें मुक्ति साम्राज्य सहज ही हो जाये संप्राप्त महान ।

(१९)

जीव की अज्ञान (अप्रतिबुद्ध) दशा

यह प्राणी संसार दशा में भूल रहा शुद्धात्म स्वरूप ।
देह तथा रागादिभाव को भ्रमवश मान रहा निज रूप ।
मेरी हैं रागादि विकृतियाँ, कर्मजजन्य पुद्गल परिणाम ।
यों भ्रमबुद्धि बनी रहने तक अप्रतिबुद्ध हैं आतमराम ।

(17) सतत-निरंतर । (18) चिद्रूप भूप—चेतन राजा ।

(२०)

अप्रतिबुद्ध दशा का स्पष्टीकरण

आत्म भिन्न जड़ चेतन एवं मिश्र द्रव्य हैं अपरम्पार—
पुत्र, कलत्र, मित्र, भृत्यादिक या धन, धान्य राज्य परिवार।
ये सब मैं हूँ—मैं ये सब हूँ, ये मेरे-मैं इनका राव।
संयोगी द्रव्यों में एवं समुत्पन्न हो जो भ्रम-भाव।

(२१)

पूर्व काल में ये मेरे थे अथवा मैं इनका था कांत।
आगामी ये मेरे होंगे—मैं तन्मय बन रहूँ नितांत।
ऐसे असद्विकल्प निरंतर करता रहता जो चिद्भ्रान्त।
वह परात्मदर्शी, बहिरातम, अप्रतिबुद्ध ही है विभ्रांत।

(२२)

अंतरात्मा की शुद्धात्म दृष्टि (भेद विज्ञान)

अग्नि—अग्नि है, ईंधन-ईंधन, अग्नि नहीं है ईन्धन भार।
ईन्धन भी न हि अग्नि मयी है, हुवा न होगा किसी प्रकार।
त्यों चेतन देहादिक से मिलकर भी रहता भिन्न नितांत।
स्व—परभेद पाकर सुदृष्टि यों अन्तरात्म बनता निर्भ्रान्त।

---

(20) कलत्र—स्त्री। भृत्य-सेवक। राव—स्वामी। (21) कांत—स्वामी। असद्विकल्प—भ्रमपूर्ण विचार। चिद्भ्रांत आत्मा को ठीक से न जानने वाला। परात्म दर्शी—पर को आत्मा समझने वाला। विभ्रांत—मिथ्यात्वी। (22) निर्भ्रांत—भ्रम रहित।

(२३)

अप्रतिबुद्ध (बहिरात्म) दशा की भर्त्सना

तम अज्ञान जनित चिद्भ्रम वश समझ पड़ गई कैसी धूल ?
बद्ध-अबद्ध सकल पुद्गलको-चेतन मान, कर रहा भूल !
देह ,गेह, परिवार आदि को मेरे—मेरे कहै अयान—
रागद्वेष मोहादि विकृतिरत अतिविक्षिप्त चित्त मतिम्लान ।

(२४)

आत्म सबोधन

वीतराग के दिव्य ज्ञान में आत्मतत्त्व पुद्गल से भिन्न—
झलक रहा वर ज्ञान ज्योति मय, चिदानंद रस पूर्ण, अखिन्न ।
कैसे हो सकता चेतन का पुद्गल सँग अविभक्त स्वभाव—
जो तू जड़ परिकर को कहता—मेरे—मेरे, चेतनराव ?

(२५)

तर्क पूर्ण आत्म सबोधन

चेतनमय परिणत हो सकता यदि पुद्गल, तब ही अविराम-
यह कह सकते थे कि हमारा ही है देहादिक परिणाम ।
सोचो भव्य ! एक क्षण भी यदि तज मतिमोह मयी अज्ञान ।
तो जड़ चेतन में होजाये सहज भेद विज्ञान महान ।

(23) चिद्भ्रम—जड़ में चेतन की भ्रांति । बद्ध—आत्मा से बंधा हुआ । विक्षिप्त—पागल, भ्रमित । (24) अखिन्न—सुखी । परिकर—समूह । (25) अविराम—तुरंत ।

(२६)

एक महत्वपूर्ण प्रश्न

यदि चेतन नहि देहमयी है, तब आचार्य तथा जिनदेव–
संबंधित सम्पूर्ण स्तुतियाँ मिथ्या सिद्ध हुईं स्वयमेव ।
यथा–सूर्य शरमा जाता है निरख देव! तव कांतिमहान,
भव्यजनों को करवाती तव दिव्यध्वनि धर्मामृत पान ।

(२७/१)

प्रश्न का समाधान

सुनो भव्य ! वस्तुतः भिन्न है जीव देह से यदपि महान् ।
बंध दशा में ऐक्य मानकर चलता नय व्यवहार विधान ।
यथा शर्करा मिश्रित जल को मीठा कहता है संसार ।
त्यों जिनेन्द्र का भी देहाश्रित संस्तव होता विविध प्रकार ।

(२७/२)

व्यवहार स्तवन का कारण

परमौदारिक काय, अलौकिक निर्विकार मुद्रा लख शांत ।
भव्य जीव परमात्म तत्त्व का दर्शन करता तत्र नितांत ।
दिव्य देह में वीतरागता यतः प्रस्फुरित है साकार ।
अतः साधु संस्तवन वंदना नित प्रति करते परम उदार ।

(26) शर्करा–शकर । (27/2) तत्र–वहां-जिनेन्द्र के शरीर में । प्रस्फुरित–स्फुरायमान ।

(२७/३)

दिव्य देह तो दूर, चरणरज भी बन रहती पूज्य, निदान ।
जिससे पावनभूमि लोक में कहलाती है 'तीर्थ' महान ।
पाषाणों से निर्मित घर भी मंदिर कहलाते अभिराम ।
मूर्ति अकृत्रिम कृत्रिम प्रभु की वंदनीय हों आठोंयाम ।

(२७/४)

जिन्हें नमन करते सुरनर मुनि इन्द्रादिक गाकर गुणगान ।
तन्निमित्त जीवन कृतार्थ कर पाते सम्यक्दर्श महान ।
प्रथम भूमिका में संसारी रह व्यवहार साधनालीन ।
निश्चय लक्ष्य बना कर करते धर्माराधन नित शालीन ।

(२८)

देहाश्रित जिनस्तवन मे साधुकी भावना

यदपि भिन्न विभुवर की काया आत्मतत्त्व से स्वतः स्वभाव ।
तदपि साधु संस्तवन वन्दना करने का रखते हैं चाव ।
मान यही--मैंने वन्दे हैं निश्चय ही केवलिभगवान् ।
और संस्तवन किया उन्हीं का भक्ति भाव से गा गुणगान ।

(27/3) आठोंयाम--आठ पहर--निरंतर। (27/4) सद्धर्माराधन--पवित्र धर्म की आराधना। अमलीन--पावन ।

(२६)

निश्चय जिन स्तवन

निश्चय से नहि काय संस्तवन देवस्तुति कहलाती है ।
यतः न काया के गुण प्रभु में जिनवाणी दरशाती है ।
निर्विकार प्रभु के गुण गाकर जो संस्तव होता मतिमान ।
वही वस्तुतः जिन स्तवन है निश्चय नय की दृष्टि प्रमाण ।

(३०)

दृष्टात द्वारा इसी का स्पष्टीकरण

सुन्दर नगर, स्वर्गसम जिसमें वन उपवन प्रासाद महान ।
यं न नगर संस्तव से होता उसके राजा का गुणगान ।
त्यों विभुवर की दिव्यदेह का करने से संस्तवन, निदान ।
संस्तुत कहलायेंगे कैसे केवलि-श्रुत केवलि भगवान् ?

(३१)

निश्चय जिन स्तवन का प्रथम रूप

तब फिर निश्चय नय से होगा क्यों कर जिन स्तवन अम्लान ?
सुनो, द्रव्य भावेन्द्रिय के प्रिय विषयों में प्रवृत्त सब ज्ञान –
पृथक् जान ज्ञायक स्वभाव से अपना रूप लिया पहिचान ।
वही जितेन्द्रिय जिन कहलाता, यह निश्चय संस्तवन सुजान ।

(29) कायसंस्तवन—शरीर की स्तुति । (31) जितेन्द्रिय—इंद्रियों को जीतने वाला ।

(३२)

निश्चय जिनस्तवन का द्वितीय रूप

आत्म-शत्रु खल मोह प्रबल है, जिसने फैलाकर विभ्रांति ।
जीवों को भव में भरमाया, उसे जीत जिसने की क्रांति ।
जाना—ज्ञानानंद मयी सत् परमतत्व चैतन्य—निधान ।
वही मोह जित् जिन कहलाता, यह द्वितीय संस्तवन महान ।

(३३)

निश्चय जिनस्तवन का तृतीय रूप

वही मोहजित् साधु पुरुष जब सजकर परमसमाधिनितांत
स्वानुभूति रत रह, क्षय करता—मोह महातम का निर्भ्रान्त ।
उसे क्षीण मोहीजिन कहकर किया गया जो जिन गुणगान ।
वही शुद्ध परमार्थ दृष्टि से है जिनेन्द्र संस्तव अम्लान ।

(३४)

निश्चय प्रत्याख्यान

आत्मद्रव्य से प्रकट भिन्न जो जड़ चैतन्यमयी संसार ।
तत्सम निज रागादि विकारी भावों को भी भिन्न विचार—
आत्म ज्ञान जाग्रत होता जब कर वर चिदानन्द रसपान—
वही ज्ञान परत्यागमयी है शुद्ध दृष्टि में प्रत्याख्यान ।

---

(32) खल-दुष्ट ।

(३५)

निश्चय प्रत्याख्यान का दृष्टाँत

यथा रजक से भ्रांत पुरुष इक ले आया पर का परिधान ।
अपना मान पहिन सोया, तब स्वामी ने आ की पहिचान ।
माँगा अपना वस्त्र, तब तजा त्वरित भ्रांत ने, त्यों भ्रमलीन ।
जीव सुगुरु से ज्ञान प्राप्त कर त्याग करे रागादिमलीन ।

(३६)

ज्ञानी की मोहजन्य विकारों मे निर्ममता

मम स्वभाव नहिंकिंचित् जितने रागद्वेष मोहादि विकार ।
मैं उपयोग मयी चेतन हूँ पावन चिदानंदघन, सार ।
समयसार ज्ञाता कहलाता यही भेद विज्ञान निधान ।
मोह भाव से निर्ममत्व रह करता चिदानंद रस पान ।

(३७)

ज्ञानी का आत्म चिंतन (अपना और पराया)

विश्व चराचर भरा हुआ है षड्द्रव्यों से निविड़ नितांत ।
मै नहि हूँ इन रूप कभी, ममरूप न ये दिखते सम्भ्रांत ।
शाश्वत ज्ञायक भाव हमारा पावन परमानन्द स्वरूप ।
देहादिक सब प्रकट भिन्न हैं, रागादिक भी हैं पररूप ।

---

(35) रजक–धोबी। भ्रांत–जिसे भ्रम हो गया हो। परिधान–पहना हुआ कपड़ा, वस्त्र। त्वरित–तुरंत। (37) सम्भ्रांत–भला आदमी। मम–मेरा। शाश्वत–स्थायी।

(३८)

स्वरूप चिंतन में आत्म लाभ

सचमुच हूँ मैं कौन ? अहा ! बस एक शुद्ध चिद्‌ब्रह्मअनूप ।
दर्शन ज्ञानमयी अविनाशी , अद्वितीय आनन्द स्वरूप ।
रूपरहित हूँ, मैं न किसी का, मम परमाणुमात्र नहि अन्य ।
यही शुद्ध परमात्म भावना भवसे करती पार, न अन्य ।

(३९)

परात्म वादियों की आत्मभ्रांतियाँ

कुछ परात्म वादी भ्रम तमरत, जिन्हें तत्त्व की नहि पहिचान—
अध्यवसानों को कहते हैं, जीव यही रागादि वितान ।
ज्ञानावरणादिक पुद्‌गल की कर्म रूप परणतियाँ म्लान—
जन अनेक मतिभ्रांति विवश बस जीव इन्हें ही लेते मान ।

(४०)

तीव्र, मंद, मध्यम वैभाविक अध्यवसानों की संतान—
ही चेतन है, कोई कहते राग-द्वेष परणतियाँ म्लान ।
नर नारक नाना आकृतियाँ धारण करता दिखे शरीर ।
जीव उसे कुछ कहें, जिन्हें जड़ चेतन की नहि परख गँभीर ।

---

(38) चिद्‌ब्रह्म—चैतन्यमयी आत्मा । (39) अध्यवसान—रागादि भाव । वितान—चंदोवा समूह । (40) म्लान—मलिन । आकृतियां—शक्ल सूरत । वैभाविक—विकारमयी । संतान—परंपरा ।

(४१)

कुछ जन मान रहे वसुकर्मों का विपाक जो सुख दुख रूप ।
जीवन में अनुभावित होता, उससे भिन्न नहीं चिद्रूप ।
पुण्य-पाप कृत कर्मोदय में हों, निष्पन्न शुभाशुभभाव ।
कोई अज्ञ उन्हें ही निश्चित मान रहे चैतन्य स्वभाव ।

(४२)

कुछ कहते हैं--जीव कर्म मिल मिश्र रूप ही है चैतन्य ।
पृथक् न अनुभव में आता है, चेतन का अस्तित्व तदन्य ।
तदतिरिक्त कुछ मान रहे हैं--जीव कर्म संयोगी भाव--
अर्थ क्रिया करने समर्थ है, अतः जीव वह स्वतः स्वभाव ।

(४३)

परात्म वाद (जड़वाद) केवल भ्रम है

यों परात्मवादी विभ्रम वश, जिन्हें तत्व की नहि पहिचान--
मन कल्पित नित्त किये जा रहे निरा भ्रांत मिथ्या श्रद्धान ।
इन्हें आत्मदर्शी यूं कहते, ये सब ही परमार्थ विहीन ।
असद् दृष्टि रखने से निश्चित ही हैं भ्रांत पथिक अतिदीन ।

---

(41) विपाक—फल । अनुभावित—अनुभव में आया हुआ । अज्ञ—अज्ञानी । (42) पृथक्-भिन्न । अस्तित्व—सत्ता । तदन्य—जुदा । तदतिरिक्त—दूसरे लोग । अर्थक्रिया—कार्यसिद्धि ।
(43) आत्म दर्शी—आत्म स्वरूप के प्रत्यक्ष ज्ञाता—दृष्टा । असत्-दृष्टि—मिथ्या भ्रांति ।

(४४)

उल्लिखित भ्रांतियों का निराकरण

अध्यवसानादिक समस्त ही जितने कर्मजनित परिणाम ।
निश्चित पुद्गल द्रव्य परिणमन से होते निष्पन्न, सकाम ।
इसी दृष्टि से श्री जिनेन्द्र ने इन्हें 'कहा पौद्गलिक विभाव ।
इन्हें जीव कैसे कह दें, नहि जिनका है चैतन्य स्वभाव ?

(४५)

स्वाभाविक ही कर्म अष्टविध पुद्गल मय हैं जड़ परिणाम ।
रंच मात्र संप्राप्त नहीं है जिनमें चेतन तत्त्व ललाम ।
जिनका फल परिपाक समय में दुखमय होता निविड़ नितांत ।
आत्म शत्रुओं को तू कैसे चेतन मान रहा, चिद् भ्रांत ?

(४६/१)

व्यवहार नय से रागादि जीव के ही परिणाम हैं

रागादिक जीवों में होती जो विभिन्न परणतियाँ म्लान—
उन्हें जीव कह श्री जिनेन्द्र ने दरशाया व्यवहार विधान ।
जो कि न्याय्य है और सर्वथा ही नहि होता जो निर्मूल ।
जीव स्वयं रागी न बनें तो कर्मबन्ध हो उसे न भूल ।

---

(44) सकाम—रागसहित (45) निविड़—घोर। (46/1) न्याय्य—न्याय संगत ।

(४६/२)

उक्त कथन का समर्थन

यतः परिणमन भिन्न न होता कभी द्रव्य से किसी प्रकार ।
कर्मोदय निमित्त पा करता जीव स्वयं रागादि विकार ।
अतः न्याय संसिद्ध पक्ष का ही प्रतिपादक है व्यवहार ।
कर्मभाव से अपराधी बन जीव स्वयं बँधता सविकार ।

(४६/३)

जीव मे उत्पन्न होकर भी रागादिक स्वभाव नही

फिर भी रागादिक स्वभाव नहि, ये विभाव हैं, अतः स्वभाव--
प्रकटाने करना अभीष्ट है रागद्वेष का पूर्ण अभाव ।
बंधन मुक्ति प्राप्त कर तब ही जीवन होगा शुद्ध महान ।
यों परमार्थ तत्व प्रतिपादन करता यह व्यवहार विधान ।

(४६/४)

व्यवहार नय मिथ्या नही, उसके मिथ्या मानने मे हानि

श्री जिन कथित मुक्ति पथ दर्शक, तीर्थ प्रवर्त्तक नय व्यवहार ।
स्वतः प्रयोजनवान् सिद्ध है, निश्चय नय सापेक्ष उदार ।
यदि व्यवहार सर्वथा मिथ्या और मान लें हेय समान ---
धर्मतीर्थ तब जगती तल पर हो जायेगा लोप, अयान !

(46/2) यतः—क्योंकि । कर्मोदय—कर्मों का फल सुख-दुखादि । संसिद्ध—भलीभाँति सिद्ध । कर्मभाव—रागादि विकार । (46/4) तीर्थ प्रवर्त्तक—धर्म को चलाने वाला । अयान—ना समझ ।

(४६/५)

जिनदर्शन, जिनधर्म श्रवण, जिनप्रतिमा-जिनमंदिर निर्माण ।
तपश्चरण, व्रत, नियम, तीर्थ—यात्रा करना जिन वचन प्रमाण ।
सामायिक, सँस्तवन, वंदना, देवार्चन, गुरु सेवा-मान ।
श्रावक-मुनि के मूलोत्तर गुण—हो जायें सब अन्तर्द्धान ।

(४६/६)

तज-अन्याय, अभक्ष्य, दुर्व्यसन एवं अनाचार व्यभिचार ।
सत्य अहिंसा मय प्रवृत्तिकर रखना उर में उच्च विचार ।
देव, शास्त्र, गुरु पर श्रद्धा, सत्पात्र दान, संयम अम्लान ।
पालन कौन करे, यदि मानें हेय सर्व व्यवहार विधान ?

(४६/७)

उभयनयो की विरुद्ध दृष्टियो का समन्वय

जीव मात्र परमार्थ दृष्टि में शुद्ध, बुद्ध, चैतन्य निधान ।
पर पर्याय दृष्टि अन्तर भी होता है उपलब्ध महान ।
उभय नयाश्रित कथन सत्य है, और अबाधित भी सापेक्ष ।
किन्तु वही मिथ्या बन जाये जब नितांत होता निरपेक्ष ।

(46/5) संस्तवन—जिनस्तुति । देवार्चन—देवपूजा । मान—आदर । अन्तर्द्धान—गायब ।

(४६/८)

यदि निश्चय एकांत ग्रहणकर प्राणिमात्र को राग–विहीन –
शुद्ध सर्वथा मान चलें तो मुक्ति मार्ग हो जाय विलीन ।
यतः शुद्ध नय मुक्ति न मानें, मार्ग न सम्यक्दर्शनज्ञान ।
मान सिद्ध भगवंत स्वयं को लोक बनें पथ भ्रांत महान ।

(४६/९)

शुद्ध दृष्टि में-बध करना, बध तजना-दोनों क्रिया समान ।
तदाधार व्यवहार करें तो नर-नारक बन जाय अजान ।
निश्चय दृष्टि जीव त्रस थावर देहों-से हैं भिन्न नितांत ।
भस्म समान उन्हें मर्दन में दोष न होगा फिर, मतिभ्रांत !

(४६/१०)

जीव सर्वथा अजर अमर है, जड़ शरीर से सदा अछूत ।
पुण्य पाप सब एक बराबर, जिन्हें चढ़ा ऐकांतिकभूत ।
तद्वश हो व्यवहार धर्म का जो खंडन करते संभ्रांत ।
उन्हें निश्चयाभास सतत सचमुच करता दिखता दिग्भ्रांत ।

(46/9) बध–हत्या, हिंसा । तदाधार–दोनों हिंसा और अहिंसा को समान मानकर । मर्दन-कुचलना, पीसना । (46/10) निश्चयाभास–नकली (मिथ्या) निश्चय ।

(४६/११)

भक्षण कर अभक्ष्य का रुचि से लेते स्वाद स्वयं अविराम ।
विषय वासना पूर्ति हेतु जो तन्मय रहते सतत सकाम ।
नहि वैराग्य ज्ञान की जिनके जीवन में है झलक, प्रवीण !
फिर भी सम्यक्दृष्टि स्वयं को मानें भ्रांत पथिक वे दीन ।

(४६/१२)

यह है सब व्यवहार धर्म निर्पेक्ष मान्यता का परिणाम ।
जिससे आत्म-भ्रांतिवश जीवन मार्ग भ्रष्ट होता अविराम ।
जिनका दुष्कर्मों में रहता योग और उपयोग मलीन ।
उनके मार्ग भ्रष्ट होने में रंच नहीं संदेह, प्रवीण !

(४६/१३)

किसको कौन-सा नय आश्रयणीय और प्रयोजनवान् है ?

परमभाव दर्शी द्वारा है-निश्चय आश्रयणीय महान ।
जो समाधि में लीन बन करें, सतत स्वानुभव का रसपान ।
अपरमभाव संस्थित जन को है व्यवहार प्रमुख उपदेश ।
पात्र भेद से प्रतिपादित है उभय नयाश्रित धर्म अशेष ।

(46/13) आश्रयणीय—आश्रय लेने योग्य । परमभावदर्शी—शुद्धोपयोगी । अपरमभाव-संस्थित—प्राथमिक-साधक दशा में स्थित ।

(४६/१४)

निश्चय निरपेक्ष व्यवहार भी व्यवहाराभास है ।

निश्चय को अलक्ष्य कर करते केवल पुण्य क्रिया अविराम ।
ख्याति, लाभ, पूजाहित–धार्मिक अनुष्ठान रत रहें सकाम ।
वे व्यवहाराभासी तप कर भी न मुक्त हों लक्ष्यविहीन ।
संसृति में स्वर्गादि प्राप्त कर रह जायें बेचारे दीन ।

(४६/१५)

हेयोपादेय विवेचन

शुद्ध, शुभ, अशुभ भावत्रय में उपादेय सर्वथा हि शुद्ध ।
शुद्ध न हो संप्राप्त, तदा शुभ उपादेय होता अविरुद्ध ।
किन्तु अशुभ सर्वथा हेय है श्री जिनेन्द्र के वचन प्रमाण ।
अतः अशुभ तज शुभ प्रवृत्ति कर लक्ष्य शुद्ध का ही श्रेयान् ।

(४६/१६)

हेयोपादेय का निर्णय परिस्थिति पर निर्भर

उपादेय या हेय व्यक्ति की योग्यतानुगत है व्यवहार ।
जो चलता नित द्रव्य, क्षेत्र, कालादि परिस्थिति के अनुसार ।
उपादेय नौका ज्यों उसको, डूब रहा हो जो मँझधार ।
वही हेय बन जाय स्वयं, जब हो जाता है बेड़ा पार ।

(46/14) ख्याति–नामवरी, यश । व्यवहाराभासी–नकली व्यवहार (मिथ्यात्व युक्त) आचरण करने वाला । लक्ष्यविहीन–आत्म सिद्धि के उद्देश्य से शून्य । (46/15) भावत्रय–तीन प्रकार के भाव । उपादेय–ग्रहणकरने योग्य; अविरुद्ध–निर्विरोध । हेय–छोड़ने योग्य । श्रेयमात्–कल्याणकारी । (46/16) योग्यतानुसार–पात्रानुसार ।

(४६/१७)

तल भागस्थ व्यक्ति श्रेणी चढ़ करता अपनी मंजिल पार ।
यदि श्रेणी को हेय समझले, तो नीचे रहजाय गँवार ।
व्याधि ग्रस्त जन को औषधियाँ जो जो पड़तीं हैं अनुकूल ।
उपादेय वे सभी, किन्तु दुर्व्याधि गये हो जातीं धूल ।

(४६/१८)

यों निष्पक्ष दृष्टि से होता एक यही निश्चित सिद्धांत –
अशुभ सदा ही हेय, कथंचित् उपादेय शुभ रहे नितांत ।
शुभ की पुण्य भूमि में रहकर लक्ष्य शुद्ध का रहे सयत्न ।
शुद्ध प्राप्त जब भी हो जाये, स्वयं शुभाशुभ छूटे अयत्न ।

(४६/१९)

शुद्ध भाव से डिगे कदाचित्, ले शुभ का आश्रय तत्काल ।
पुनः शुद्ध समभाव प्राप्तकर स्वानुभूति रत रहें त्रिकाल ।
शुद्ध स्वानुभव का सुलक्ष्य नित सर्वदशाओं में श्रद्धेय ।
रंच नहीं संदेह-प्राप्त करने में इसके ही है श्रेय ।

(46/17) तलभागस्थ—नीचे खड़ा हुआ । श्रेणी—सीढ़ी, जीना । व्याधिग्रस्त—रोगी, बीमार । दुर्व्याधि—बीमारी । अनुकूल—लाभदायक । (46/18) कथंचित्—किसी दृष्टि से-पात्रानुसार । सयत्न—प्रयत्न पूर्वक । अयत्न—बिना यत्न के । (46/19) श्रद्धेय—श्रद्धा-करने योग्य । श्रेय—कल्याण ।

(४६/२०)

व्यवहार नय का आश्रय किसे हेय है और किसे उपादेय ?

जो मुनिजन निश्चय अलक्ष्य कर शुभ प्रवृत्ति में रहते लीन ।
उन्हें हेय व्यवहार दिखा गुरु निश्चय में करते तल्लीन ।
मुनि, श्रावक या अन्यजनों को जो हैं स्वानुभूति से हीन ।
उन्हें अशुभ तज शुभ प्रवृत्ति ही श्रेयस्कर तावत् अमलीन ।

(४६/२१)

पात्र अपात्र दृष्टि रख होती धर्म देशना नित अम्लान ।
जो जिस योग्य उसे वैसी ही निश्चय या व्यवहार प्रधान ।
अभिप्राय यह है कि नयों की दृष्टि समझकर तत्व अशेष ।
जान मान आचरण किये बिन होगा जन उद्धार न लेश ।

(४७)

दृष्टांत द्वारा व्यवहार एव निश्चय का प्रदर्शन

चल पड़ता चतुरंग सैन्य सज जगती पर जब नृपति उदार ।
उसे विलोकन कर विस्मित हो तब यूँ कहता है संसार--
'अरे ! भूप कोसों विस्तृत बन किधर कर रहा है प्रस्थान ?'
यह व्यवहार कथन, निश्चय से नृपति न सैन्य व्यक्ति, इकजान ।

(46/21) धर्मदेशना—धर्मोपदेश । अशेष—सब । (47) विस्मित—आश्चर्य चकित । विस्तृत—फैला हुआ । प्रस्थान—कूच । सैन्य—सेना ।

(४८)

त्यों रागादि विकारी भावों--मय होते जो अध्यवसान ।
उन्हें जीव कह दर्शाया है श्री जिनने व्यवहार विधान ।
एक चेतना जो व्यापक है अध्यवसानों में अविराम ।
निश्चय नय से वही जीव है, यहाँ भेद पाता विश्राम ।

(४९)

शुद्धनय से आत्म तत्त्व का निरूपण (आत्मा क्या है)

अरस, अरूप ,अगंध, स्पर्श विन, चिद्विशिष्ट, अव्यक्त, महान ।
शब्दहीन, जिसका न लिंग है, अनुपम, अनिर्दिष्ट संस्थान ।
जीव वही चेतन अविनाशी अन्तस्तत्त्व, स्वस्थ, अम्लान ।
सहजानंद स्वरूपी, सम्यक् दर्शन ज्ञान चरित्र निधान ।

(५०)

आत्मा क्या नही है ?

रूप नहीं, रस नहीं, गंध नहि, और नहीं है स्पर्शअशेष ।
नहि नारक, नर, सुर, पशुमय हैं, जितने शारीरिक परिवेश ।
समचतुरस्र, स्वाति, कुब्जक या अन्य नहीं कोई संस्थान ।
वज्रवृषभनाराचादिक भी नहि सँहनन चैतन्य सुजान ।

---

(48) अध्यवसान--जीव के विकारी भाव । (49) चिद्विशिष्ट--चैतन्यमयी। अनिर्दिष्ट--जिसका निर्देशन न किया जा सके (अनिर्वचनीय) । संस्थान--आकार। अंतस्तत्त्व--आभ्यंतर सार वस्तु । (50) परिवेश--वेष्टन । संहनन--हड्डियों का बंधन विशेष ।

(५१)

निश्चय से विकारी भाव भी आत्मा के स्वभाव नहीं

रागद्वेष मय जितने भी है मोह जन्य परिणाम विशेष ।
शाश्वत जीव स्वभाव कभी भी हो न सकें वे बंधु ! अशेष ।
मिथ्यादर्शन अविरति अथवा योग, कषाय, प्रमाद मलीन–
निश्चय नय से आत्म भिन्न हैं द्रव्य-भाव-नो कर्म प्रवीण !

(५२/१)

वर्ग वर्गणा आदि भी आत्मा नही

समग्रविभाग प्रतिच्छेदमय शक्ति वर्ग कहलाती है ।
वर्गों का समुदाय वर्गणा जिनवाणी दरशाती है ।
इन्हीं वर्गणाओं से स्पर्द्धक बनते, पर ये सब नहि जीव–
मानें जा सकते न शुभाशुभ मन संकल्प विकल्प अजीव ।

(५२/२)

लता, दारु, अरु अस्थि, अश्मवत्, विविध शक्तियुत्घातियकर्म ।
या गुड़, खांड, शर्करा एवं सुधा स्वाद वत् सब शुभ कर्म ।
अशुभ-निंब, कांजीर, विष हलाहल सम जो अनुभाग स्थान ।
नहिं अशुद्ध अध्यात्म मयी भी शुद्ध जीव के हैं संस्थान ।

(51) अविरति–असंयमभाव । (52/1) समअविभाग प्रतिच्छेद–अणुओं में एक समान फल देने की शक्ति रखने वाले अविभागी अंश, ऐसे कर्म परमाणु जिनमें एक समान फल देने के अंश मौजूद हैं । स्पर्द्धक–फलदान शक्ति की विशेष वृद्धि को प्राप्त कर्म वर्गणाएं । संकल्प–बाह्य विषयों में ममत्व की कल्पना । विकल्प–मन में हर्ष विषाद आदि । अतीव–बहुत से (52/2) लता–बेल । दारु–लकड़ी । अस्थि–हड्डी । अश्म–पत्थर । घातीय कर्म–आत्मा के ज्ञानादि गुणों का घात करने वाले मोहनीय, ज्ञानावरण दर्शनावरण अन्तराय कर्म । सुधा–अमृत । निंब–नीम । अनुभागस्थान–कर्मों के फल देने की योग्यताएं । अध्यात्म स्थान–मिथ्याज्ञान के समय होने वाले विकारी भाव ।

(५३)

योग, बंध, उदय एव मार्गणा स्थान भी आत्मा नही

मनवचकाय योग मय जितने चंचलयोग स्थान विशेष –
प्रकृति स्थिति अनुभाग प्रदेशों मयी बंध संस्थान अशेष –
नहीं जीव के हो सकते ये तथा न उदय स्थान समस्त –
तीव्र मंद फल मयी, मार्गणाओं के भी सब भेद प्रशस्त ।

(५४)

स्थिति बध स्थान से लेकर गुणस्थान
पर्यन्त जीव के स्वभाव नही

कर्म प्रकृति की कालान्तर में स्थिति एवं तद्बंधस्थान ।
या कषाय के तीव्रोदय में होते जो संक्लेश स्थान ।
जब कषाय का मंदोदय हो तब हों बंधु ! विशुद्धि स्थान ।
चरित्र मोह की क्रम निवृत्ति में संयम के हों लब्धि स्थान ।

(५५)

पर्याप्तापर्याप्त, सूक्ष्म-बादर आदिक सब जीवस्थान,
मिथ्यात्वादि अयोगीजिन तक होते हैं चौदह गुणस्थान ।
यतः पौद्गलिक कर्म निमित्तक होते ये परिणाम विशेष ।
अतः सुनिश्चय दृष्टि जीव के कहलाएँगे नहीं अशेष ।

(55) पर्याप्तापर्याप्त–जिनकी पर्याप्तियाँ पूर्ण हो गई हों वे जीव पर्याप्त और जिनकी पूर्ण न हुई हों वे अपर्याप्त कहलाते हैं ।

(५६/१)

शंका - समाधान

यदि ये जीव नही हैं, केवल पुद्गल के परिणाम अशेष—
तो फिर किया जिनागम में क्यों जीव मान इनका व्यपदेश ?
सुनो, भव्य ! एकांत नहीं है, चेतन भी पुद्गल के संग—
सविकारी बन फिरे भटकता रहे बदलता अपना रंग ।

(५६/२)

रँगे हुए वस्त्रों में होता 'नील पीत' का ज्यों व्यवहार ।
निश्चय शुक्ल स्वभाव वस्त्र का, नीलपीत औपाधिकभार ।
त्यों उल्लिखित गुणस्थानादिक संयोगज परिणाम अनेक—
जीव कहे व्यवहार दृष्टि से, निश्चय—शुद्ध चेतना—एक ।

(५७)

वर्णादिक जीव के क्यों नही है ?

वर्णादिक पुद्गल परिणामों का अनादि से चेतन संग—
संयोगज सम्बन्ध मात्र है, नहि तादात्म्य उभय सर्वांग ।
नीर क्षीरवत् मिले हुए भी लक्षण से दोनों हैं भिन्न ।
पुद्गल जड़ स्वभाव, पर चेतन उपयोगाधिक गुण सम्पन्न ।

(56/1) व्यपदेश—भेद कथन । (57) संयोगज—दो वस्तुओं के मेल से उत्पन्न होने वाला । तादात्म्य—ऐक्यपना । उभय—दोनों । सर्वांग—पूर्णांश में ।

(५८)

दृष्टात

देशांतर प्रति किसी पथिक ने अमुक मार्ग से किया प्रयाण ।
उसे लुटेरों ने मिल लूटा, लोक कहें व्यवहार प्रमाण–
'अरे ! मार्ग यह महा लुटेरा' किन्तु मार्ग आकाश प्रदेश–
कभी किसी को लूटेंगे क्या ? यह केवल उपचार अशेष ।

(५६)

व्यवहार से जीव मूर्तिक है

त्यों नो कर्म कर्म में होते वर्ण आदि गुण धर्म अनंत ।
जीवों को तद्बंध दशा में मूर्तिमंत कहते भगवंत ।
यह व्यवहार कथन है केवल निश्चय का करने परिज्ञान ।
बद्धजीव मूर्तिक शरीर से हो जाता संज्ञात, निदान ।

(६०)

व्यवहार से संयोगज भाव जीव के ही है

वर्ण समान गंध, रस, स्पर्श, अरु संहनन वा नाना संस्थान,
बंध, उदय, अध्यात्म-मार्गणा-योग-विशुद्धि-संक्लेश स्थान ।
जीवस्थान, गुणस्थानादिक जो जीवाश्रित हैं संश्लिष्ट ।
वे व्यवहार दृष्टि से सम्यक् जैनागम द्वारा निर्दिष्ट ।

---

(58) देशांतर–दूसरा देश । प्रयाण–प्रस्थान । (59) नोकर्म–शरीर । कर्म–ज्ञानावरणदि रूप कर्म परमाणु । तद्बंध दशा–कर्म बंधन की हालत । संज्ञात–ठीक ठीक जाना हुआ । (60) संश्लिष्ट–मिले हुए । निर्दिष्ट–कहे गये ।

(६१)

व्यवहार व निश्चय प्रवृत्ति के कारण

संसारी जन में वर्णादिक कहलाते पुद्गल के संग;
किन्तु मुक्त हो जाने पर नहि वर्ण आदि का रहे प्रसंग ।
इनका है तादात्म्य देह में; किन्तु जीव से है संयोग ।
संसृति से परिपूर्ण मुक्त में इनका होता सहज वियोग ।

(६२)

जीव और पुद्गल भिन्न क्यों है ?

यदि वर्णादि पौद्गलिक जितने भी है गुण पर्याय विशेष ।
चेतन के ही मान चलें तो पुद्गल पृथक् न रहता लेश ।
यथा ज्ञान दर्शन चेतन से रखते है तादात्म्य अतीव ।
त्यों वर्णादिक गुण पुद्गल से, अतः भिन्न द्वय पुद्गल जीव ।

(६३)

ससारी जीवो को वास्तव मे रूपी मानना युक्त नही

तुम्हें मान्य हों यदि संसारी--जन वर्णादिमन्त सविशेष ।
तब स्वभावतः ही संसारी मूर्तिमंत हों, सिद्ध अशेष ।
माना गया रूप को पुद्गल का विशेष लक्षण निर्भ्रान्ति ।
उक्त नियम से संसारी जन पुद्गल होंगे सिद्ध नितांत ।

(६४)

संसारी जीव को रूपी मानने में हानियाँ

यों संसारी जीव मात्र तुम पुद्‌गल माना एक प्रकार ।
उसे मुक्ति मिलने पर पुद्‌गल को ही मुक्ति मिली साकार।
यों पुद्‌गल ही सिद्ध हुए सब, जीव तत्व का हुवा विनाश ।
यह संभव नहि, यतः स्वयं में झलक रहा चैतन्य प्रकाश ।

(६५)

जीव स्थान भी निश्चय से जीव नहीं।

एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय आदि--
बादर और सूक्ष्म सब ही हैं नामकर्म की प्रकृति अनादि ।
पर्याप्तापर्याप्तक भी हैं उसी कर्म के भेद निदान ।
इन्हीं प्रकृतियों द्वारा होते समुत्पन्न सब जीवस्थान ।

(६६)

जीवस्थान जड़ स्वभाव हैं

इनमें कहाँ चेतना ? इनसे भिन्न तत्व चैतन्य ललाम ।
करणभूत ये कर्म प्रकृतियां पुद्‌गलमय हैं जड़ परिणाम ।
इनमें जब उपलब्ध नहीं है, कहीं जीव का सत्त्व अनूप ।
फिर जड़ प्रकृतिमयी इन सबको मान्य करें कैसे चिद्रूप ?

(65) समुत्पन्न—पैदा । (66) सत्व—अस्तित्व ।

(६७)

'सूक्ष्म बादर' जीव संज्ञा मात्र व्यवहार

सूक्ष्म बादरादिक जीवों की सूत्र कथित संज्ञा निर्भ्रान्ति–
देहों की ही है, घृत घटवत् अपर्याप्त पर्याप्त नितान्त ।
लौकिक जनको जीवतत्त्व के अवगम हेतु किया व्यवहार ।
बिन व्यवहार शक्य नहिं जग में धर्म तीर्थ परमार्थ प्रसार ।

(६८)

वास्तविकता क्या है ?

मोह व्याधि से पीड़ित है यह दृष्टादृष्ट सकल संसार ।
इसके उदय–योग से होता, गुण स्थान कृतभेद प्रसार ।
हैं कर्मोदय जन्य अचेतन गुण स्थान नहि, जीवस्वभाव ।
निश्चय नय की शुद्ध दृष्टि में जीव-मात्र है ज्ञायक भाव ।

इति जीवाजीवाधिकारः

(67) संज्ञा—नाम । अवगम—ज्ञान कराना ।

कर्त्ता-कर्माधिकार:

(६९)

आत्मा मे क्रोधादि भाव क्यो उत्पन्न होते है,

चिर अज्ञान जनित भ्रमतमरत रह अनादि से सतत अशांत ।
आस्रव एवं आत्म तत्व में अंतर पाता नहिं चिद्भ्रांत ।
निज अज्ञानदशा में भ्रमवश कर क्रोधादि मलिन परिणाम ।
तन्मय हो अभिनय करता है भूतग्रस्त जनवत् अविराम ।

(७०)

क्रोधादि भावों का परिणाम क्या होता है ?

जीवन में क्रोधादि विकृति कर खुलजाता आस्रव का द्वार ।
आस्रव संचित कर्म बद्ध हों---तीव्र मंद परणति अनुसार ।
जीव-पुदगलों में जिन भाषित है वैभाविक शक्ति महान --
जिससे उभय-द्रव्य में होती वैभाविक परणतियां म्लान ।

---

(69) चिद्भ्रांत--आत्म तत्व के संबंध में भ्रांति रखने वाला । भूत ग्रस्त--जिसे भूत लगा हो। (मिथ्या दृष्टि) जनवत्--मनुष्य के समान । अविराम--निरंतर । (70) विकृति--विकार । संचित--इकट्ठे किये हुए । वैभाविक शक्ति--विकार रूप परिणमन करने की योग्यता । उभय--दोनो । म्लान--मलीन--विकृत, गंदी ।

(७१)

आस्रव एव बध कब नही होता ?

जीवन में छाया अनादि से मोहमहातम निबिड नितांत—
जिससे अपना और पराया समझ न पाता चिर विभ्रान्त ।
जब क्रोधादि आस्रवों से हो भिन्न ज्ञात शुद्धात्म स्वरूप—
जीवन मे तब बंध न होता, भेद-ज्ञान-परिणामअनूप !

(७२)

भेद विज्ञान से वध निवृत्ति किस प्रकार होती है ?

आस्रव अशुचि स्वभाव जिन कथित ज्यों जल में सिवार त्यों म्लान ।
जीव ज्ञानघन है, आस्रव पर चिद्विकार पुद्गल संतान ।
चिदानंद मय रूप हमारा—आस्रव दुखद और पर रूप ।
एवं जान रहस्य न करता ज्ञानी आस्रव भाव विरूप ।

(७३/१)

भेद ज्ञानी की शुद्धात्म भावना

हूं चिन्मात्र तत्व में शाश्वत, शुद्ध-कर्म कर्तृत्व विहीन ।
क्रोध मान मायादि विकृति से निर्ममत्व, रागादिक हीन ।
दर्शन ज्ञान-समग्र, स्वस्थ, सच्चिदानंदरस पूर्ण अक्षीण ।
कर्मकलंकपंक बिन पावन, अमल—अखंड-ज्योति,स्वाधीन ।

---

(72) निवृत्ति—छुटकारा—मुक्ति । निविड़—घोर, सघन । चिद्ब्रह्म—ज्ञानमयी आत्मा । अनूप—उपमा रहित, बेमिसाल, (72) सिवाल—काई, जल में उत्पन्न पदार्थ विशेष । (73/1) शास्वत—सदाकाल रहने वाला, स्थायी । चिन्मात्र—ज्ञान मात्र ज्ञानमयी । समग्र—परिपूर्ण ।

(७३/२)

शुद्धात्म भावना का परिणाम

यों शुद्धात्म भावना रत हो जीव स्व-पर तत्वार्थ पिछान--
पर संकल्प विकल्प जाल से होकर मुक्त, स्वस्थ, अम्लान--
अंतरात्म बन करता जब वह अनुपम चिदानन्द रसपान
स्वतः उसी क्षण नूतन आस्रव--बंधन का होता अवसान ।

(७४/१)

ज्ञानी के आस्रव सम्बन्धी विचार

जीव बद्ध आस्रव का होता अपस्मारवत् दुष्परिणाम ।
आस्रव अध्रुव-जीव ध्रुव, आस्रव ज्वरवत् दुखमय, चित् सुखधाम ।
जीवशरण ये अशरण-इकक्षण उदय काल रुक सकें न दीन ।
आकुलता उत्पादक आस्रव, आत्मस्वभाव विकलता-हीन ।

(७४/२)

नरकवास ज्यों दारुण दुःखमय आस्रव का भीषण परिणाम ।
सुख-सत्तासम्पन्न चेतना अनाद्यंत अनुपम अभिराम ।
आत्मतत्त्व यों अनुभव करता जब आस्रव से भिन्न नितांत ।
तब ज्ञानी बंधन से होता--सहजनिवृत्त, निराकुल शांत ।

(74/1) दुष्परिणाम--बुरा नतीजा, खोटा फल । अपस्मारवत्--मिरगी रोग--जिसमें स्मरणशक्ति नष्ट हो जाती है । विकलता--आकुलता, दुख । अध्रुव--अस्थायी ।
(4/2) अभिराम--सुन्दर । अनाद्यन्त--आदि अन्त रहित ।

(७५)

वास्तविक ज्ञानीं कौन ?

सुख, दुःख, राग, द्वेष, मोहादिक हैं सब कर्मों की संतान ।
स्पर्श रूप रस गंध सूक्ष्म या बादरादि नोकर्म प्रधान ।
चेतन निश्चय से इनका नहि कर्ता है, ये जड़ परिणाम ।
यों अनुभव कर्त्ता हि वस्तुतः ज्ञानी कहलाता निष्काम ।

(७६)

ज्ञानी पर द्रव्य को जानता, किन्तु कर्ता नही ।

पुद्गलकर्म जानता ज्ञानी भेद ज्ञान कर विविध प्रकार;
किन्तु नहीं तद्रूप परिणमन करता किंचित् किसी प्रकार ।
परको ग्रहण न करता है वह, उनमें नहि होता उत्पन्न ।
अपना परमें हो सकता नहि कर्त्ता-कर्मभाव निष्पन्न ।

(७७)

ज्ञानी अपने रागादि को जानता हुआ भी तद्रूप परिणमन नही करता ।

ज्ञानी, कर्मोदय निमित्त से—जो होते दुर्भाव अशेष—
उन्हें जानता है नैमित्तिक, नहि तद्रूप परिणमें लेश ।
आदि मध्य या अन्त कभी भी नहिं परिणमता वह पररूप ।
तत्पर्याय ग्रहण नहिं करता नही उपजता बन तद्रूप ।

---

(75) हि—निश्चय से । निष्काम—जिसे सांसारिक भोगों एवं वस्तुओं की चाह न हो ।
(76) तद्रूप—उस रूप । निष्पन्न—सिद्ध । (77) अशेष—समस्त । तत्—वह, उसकी ।

(७८)

ज्ञानी कर्म फलों का भी कर्त्ता नही ।

सुख दुखादि जो पुद्गल कर्मों के विपाक है विविध प्रकार ।
ज्ञानीजीव न उनका कर्ता सिद्ध कभी होता अविकार ।
यतः न वह तन्मय होता है, करता उन्हें ग्रहण नहि लेश ।
और न हो उत्पन्न वही बन, उदासीन रहकर सविशेष ।

(७९)

पुद्गलकर्म भी जीव के भावों का कर्त्ता नही है ।

ज्यों न जीव पुद्गल मय कर्मों और फलों का कर्ता है ।
त्यों पुद्गल भी नहि निश्चय से जीव-भाव परिणमता है ।
उन्हें ग्रहण करता न कभी वह साभिप्राय चैतन्य विहीन ।
एवं जीव रूप धारण कर भी न उपज सकता जड़ दीन ।

(८०)

जीव और कर्म मे निमित्त और नैमत्तिक सन्बन्ध है ।

जीवों के परिणाम निरन्तर होते जो कि शुभाशुभरूप ।
पा निमित्त इनका पुद्गल-अणु कर्मरूप परिणमें विरूप ।
वैसे ही उदयागत पुद्गल कर्मों का निमित्त पा जीव -
रागद्वेष भावों को धारण कर बन रहता विकृत अतीव ।

---

(79) साभिप्राय-इरादतन, विचारपूर्वक । विहीन-रहित, शून्य । जड़ अजीव । दीन बेचारा, गरीब । (80) विरूप-विभाव रूप, विकारमयी । अतीव-अत्यंत ।

(८१)

निश्चय से जीव और पुद्गल मे कर्त्ता कर्म सबध नही।

पुद्गल के गुण पर्यायों का कर्त्ता रंच नहीं चैतन्य।
और न चेतन के गुण पर्यय है पुद्गल कर्मो से जन्य।
किन्तु परस्पर उभय द्रव्य में है निमित्त नैमित्तिक भाव।
जिसका यह परिणाम दिख रहा द्रव्य भावगत राग विभाव।

(८२)

जीव निश्चय से अपने ही भावो का कर्ता है।

स्वाभाविक ही चेतन अपने भाव स्वयं करता निष्पन्न।
सकल पौद्गलिक कर्म-भाव वह नहि कदापि करता उत्पन्न।
शुद्ध भाव ज्ञानी करता है, अज्ञानी रागादि विकार।
ज्ञानावरणादिक का कर्त्ता कहना है केवल उपचार।

(८३/१)

जीव निश्चय से अपने भावो का ही कर्त्ता-भोक्ता है, किन्तु उसके विकारी भावो में कर्मोदय निमित्त होता है।

इस प्रकार निश्चय से चेतन अपने ही करता परिणाम –
शुद्ध अशुद्ध मिश्र परणतियाँ जो कुछ भी होतीं अविराम।
भोक्ता भी वह अपने भावों का ही रहता है त्रय काल।
किन्तु तहाँ पुद्गल कर्मोदय भी निमित्त रहता तत्काल।

---

(81) द्रव्य भावगत–पुद्गल के परमाणुओं और आत्मा में उत्पन्न होने वाला। विभाव–विकार।

(८३/२)

उक्त कथन का दृष्टांत ।

उदधि शांत हो या लहरावे, उठने पर भीषण तूफान ।
वह अपनी परणति अपने में करता है, स्वयमेव, न आन ।
तीव्र मंद मध्यम गति परिणत बहने वाला वायु–प्रवीण !
रहता है निमित्त ही केवल, सागर की परणति स्वाधीन ।

(८४)

जीव कर्मों का कर्ता भोक्ता व्यवहार से है ।

यथा मृत्तिका से कुलाल मृद्-पात्रों का करता निर्माण ।
उनका कर्त्ता-भोक्ता है वह, यह कहता व्यवहार विधान ।
त्यों सविकारी जीव कर्म का कर्त्ता है व्यवहार–प्रमाण ।
सुख-दुख कर्मफलों का भोक्ता भी कहलाता वह, मतिमान !

(८५)

निश्चय से जीव कर्म का करता क्यो नही है ?

निश्चय से यदि जीव कर्म का कर्त्ता माना जाय नितांत ।
तब जड़-चेतन उभय क्रिया का कारक जीव ठहरता, भ्रांत ।
जिनमत से विरुद्ध वा बाधित भी है यह सिद्धांत, प्रवीण !
जड़ में जड़, चेतन में चेतन क्रिया हुआ करती स्वाधीन ।

(83/2) उदधि–समुद्र । आन–दूसरा । सागर–समुद्र । (84) कुलाल–कुम्हार, कुंभकार । मृद्–मिट्टी । सविकारी–रागद्वेषादि विकार करने वाला ।

(८६/१)

द्वि क्रियावादी मिथ्यादृष्टि है ।

निजमें निजकी, पर में पर की सर्वक्रिया होती निष्पन्न ।
कर्म कर्तृता-चेतन में तुम करना, चाह रहे सम्पन्न ।
किंतु न जड़ की क्रिया कभी भी चेतन कर सकता निष्पन्न ।
द्विक्रिया वाद इसी से मिथ्या हो जाता संसिद्ध, विपन्न ।

(८६/२)

निश्चय नय से कर्ता कर्म और क्रिया का स्वरूप ।

जो परिणमन करे वह कर्त्ता, कर्म वही जो हो परिणाम ।
परणति-क्रिया कही जाती है, वस्तु एक-त्रय दृष्टि ललाम ।
स्वतः प्रत्येक द्रव्य परिणामी परिणमता कर निजपरिणाम ।
पुद्गल की परणति पुद्गल में, चेतन में उसका क्या काम ?

(८६/३)

भ्रमतम ग्रसित जीव अज्ञानी बन रहता सद्दृष्टि विहीन ।
'मैं कर्त्ता–धर्ता हूँ जग का' यों, विचार कर बनें मलीन ।
इस अनादि भ्रम का हो जाये यदि परिहार एक ही बार—
तो निश्चित हो जाय हमारा भवसागर से बेड़ा पार ।

(86/1) द्वि—दो । संसिद्ध—अच्छी तरह सिद्ध । विपन्न—विपद् ग्रस्त, नष्ट, जिस पर विपत्ति आई हो । (86/2) ललाम—सुन्दर । (86/3) परिहार—त्याग, दोष का दूर करना ।

(८७/१)

मिथ्यात्वादि जीव के हैं या पुद्गल के ?

मिथ्यात्वादि जीव के कहते भगवन् ! तुम अनन्य परिणाम ।
फिर उनही को पुद्गल के भी घोषित करते क्यों अविराम ?
हमें समझ नहि आता यह तब कथन परस्पर नियम विरूद्ध ।
उन्हें जीव या पुद्गल के ही निश्चित कहियेगा अविरूद्ध ।

(८७/२)

मिथ्यात्वादि भाव जीव के हैं और कर्मप्रकृति पौद्गलिक है ।

सुनो, भव्य ! इसमें रहस्य है एक नहीं मिथ्यात्वमलीन ।
अविरति, योग कषाय, जीव, वा जड़ गत हैं द्वयभाव, प्रवीण !
जीव और पुद्गल दोनों में होते ये वैभाविक भाव ।
मिथ्या श्रद्धा भाव जीव का, इतर पौद्गलिक कर्म विभाव ।

(८७/३)

इसका दृष्टांत

ज्यों मयूर का रूप झलकता जब दर्पण तल में अभिराम ।
तब मयूर रहता मयूर में, दर्पण में प्रतिबिम्ब ललाम ।
दर्पण का प्रतिबिम्ब उसी की परणति है, न मयूर स्वरूप ।
मिथ्या श्रद्धाभाव जीव का, है मिथ्यात्व प्रकृतिजड़रूप ।

(87/1) अनन्य—अभिन्न, तन्मयी, एकाकार । अविराम—तुरंत, फौरन, तत्काल । अविरुद्ध—विरोध रहित । (87/2) इतर—दूसरा ।

(८८)

मिथ्यात्वादि पुद्गल और जीव उभय में उत्पन्न होते है।

जीव और जड़उभयाश्रित हैं—मिथ्यात्वादिक उभय विकार।
जीवाश्रित है मिथ्याश्रद्धा अविरति या अज्ञान विकार।
है मिथ्यात्व योग अविरति ज्ञानावरणादि प्रकृति परिणाम।
पुद्गल जीव उभय के यों है मिथ्यात्वादिक द्वय—सम नाम।

(८६)

किस कारण चेतन में होते मिथ्यात्वादि मलिन परिणाम ?
भव्य! सुनों संसृति में चेतन कर्मबद्ध रहता अविराम।
मोह युक्त उपयोगमयी सब मिथ्या अविरति अरु अज्ञान।
चेतन की परणतियाँ होतीं भूतग्रस्त जनवत् त्रय म्लान।

(६०)

आत्मा तीन प्रकार के परिणाम विकारों का कर्त्ता है।

निश्चय कथित शुद्ध उपयोगी निरावरण चैतन्य महान।
मिथ्या अविरति वा कषाय मय परिणत हो बन रहा अजान।
जब जैसा उपयोग निरत बन करता उक्त मलिन परिणाम—
उसका वह कर्त्ता बन जाता पा निमित्त कर्मोदय वाम।

---

(88) द्वाय—दोनों। सम—एक समान। उभयाश्रित—दोनों के आश्रित। (89)संसृति—संसार दशा, परिभ्रमण की हालत। भूत ग्रस्त—जिसको भूत लगा हुआ है। जनवत्—मनुष्य के समान। त्रय—तीन। म्लान—मलिन, गंदी। (90) वाम—विपरीत, प्रतिकूल।

(९१)

आत्मा के विकृत भावों के निमित्त से पुद्गल स्वयं ही कर्मरूप परिणमता है !

शुद्धाशुद्ध भाव कर चेतन परिणमता जैसा-जिसबार ।
उन भावों का कर्त्ता भी वह निश्चित होता सर्व प्रकार ।
जब अशुद्ध भावों कर परिणत होता है चैतन्य मलीन ।
स्वतः तभी पौद्गलिक वर्गणा कर्मरूप परिणमें मलीन ।

(९२)

जीव कर्मों का कर्त्ता अज्ञान से ही है

मोह जनित अज्ञान ग्रसित बन प्राणी स्वयं विकाराक्रांत ।
पर को निज, निज को पर, कल्पित मान भ्रमित हो रहा अशांत ।
रागद्वेष मोहादि विकृतियाँ कर्म निमित्तज हैं परिणाम ।
अपनाकर वह उन्हें कर्मका कर्त्ता बना हुवा अविराम ।

(९३)

सम्यक्दृष्टि जीव कर्म का कर्त्ता नही बनता ।

अनुभव कर शुद्धात्तमत्त्व का ज्ञानी बन विभ्रांति विहीन ।
परको अपना मान कभी वह होता नहि मिथ्यात्व—मलीन ।
निजको परका भी न बनाता वीतराग विज्ञान निधान ।
ज्ञाता दृष्टा बन रहने से कर्म अकारक है संज्ञान ।

---

(92) विकाराकान्त—जिस पर विकारों ने आक्रमण किया हो । विकृतियाँ—विकार समूह, खोटे भावों का समुदाय । अविराम—तुरंत । (93) विभ्रांति—मिथ्यात्व, मोह । निधान—भंडार, खजाना ।

(११४)

इस प्रकार सब जीव नियम से होंगे सिद्ध स्वयं निर्जीव ।
जीव द्रव्य का नाश दूसरे—शब्दों में हो जाय अतीव ।
यही दोष प्रत्यय शरीर वा जीव एकता मे गंभीर ।
जब कि जीव नहि कर्म बन सके और न प्रत्यय याकि शरीर ।

(११५/१)

जीव तत्व से क्रोध भिन्न है, यदि यह मान्य तुम्हें सिद्धांत ।
यतः क्रोध जड़; किन्तु जीव उपयोग मयी चैतन्य नितांत ।
त्यों नो कर्म, कर्म-प्रत्यय भी जीव भिन्न होते है सिद्ध ।
मिथ्यात्वादि विकारों से है भिन्न तत्व चैतन्य प्रसिद्ध ।

(११५/२)

व्यवहार नय मे जीव कर्मों का कर्ता है

यों विशुद्ध नय से कर्मो का कर्ता जीव न होता सिद्ध ।
किन्तु वही व्यवहार दृष्टि से कर्ता भोक्ता न ही असिद्ध ।
यतः जीव अज्ञान दशा मे करता है परिणाम मलीन ।
अतः जीव ही उनका कर्त्ता बन रहता व्यवहाराधीन ।

(114) अतीव—अत्यंत । प्रत्यय—इन्द्रियादि करण ।

(११५/३)

व्यवहार निरपेक्ष निश्चयैकात सांख्य सदाशिवों का मत है

देवदत्त अवलोकन करता वामनेत्र से, इसका अर्थ—।
यही कि दक्षिण से न विलोके, भिन्न अर्थ सब होंगे व्यर्थ ।
यों सापेक्ष नयों को जो नहि मान्य करें मतिभ्रान्त नितांत ।
सांख्य, सदाशिव मत अनुयायी बनकर होते वे दिग्भ्रान्त ।

(११५।४)

यदि यह जीव सर्वथा ही नहि होता कभी विकाराक्रांत ।
क्रोध मानमायादि कषायों से अलिप्त रहता निर्भ्रांत ।
तब फिर कर्म बंध नहि होगा इसे सिद्ध भगवान समान ।
संसार जन रहे न कोई, सभी मुक्त हो रहे, निदान ।

(११५/५)

निश्चयैकात प्रमाण बाधित है

यह सब है प्रमाण से बाधित, जब किप्रत्यक्ष दुःखी संसार ।
और जीव से भिन्न न होते क्रोधादिक चैतन्य विकार ।
अतः नयाश्रित कथन सर्वथा है न कदाग्रह योग्य निदान ।
जिस नय से जो कथन किया, वह आपेक्षिक ही सत्य सुजान ।

(121/3) वामनेत्र—बांयी आँख । सापेक्ष—एक दूसरे की अपेक्षा रखते हुए ।
(115/4) विकाराक्रांत—विकार सहित । आपेक्षिक—किसी अपेक्षा (सर्वथा नहीं)

(११६)

जीव और पुद्गल मे वैभाविक शक्ति का निरूपण

जीव तथा पुद्गल में होती वैभाविक इक शक्ति महान ।
जिसका विकृत परिणमन होता उभय द्रव्य में स्वतः निदान ।
यदि पुद्गल नहि बँधे स्वयं ही या न परिणमें कर्मस्वरूप ।
पुद्गल का फिर हो जायेगा अपरिणामि-कूटस्थ स्वरूप ।

(११७)

निरपेक्ष अनेक मान्यताएँ और उनका निराकरण

अपरिणामिनी कर्मवर्गणा कर्मरूप यदि हों नहि म्लान ।
तब संसृति का ही हो जाये जगती पर सम्प्रति अवसान ।
क्यों कि कर्म के बंध बिना संसार दशा होती नहिं सिद्ध ।
या फिर सांख्यमती बनने का आजायेगा दोष प्रसिद्ध ।

(११८)

यदि यह माना जाय कि पुद्गल अणुओं को वसुकर्म स्वरूप—
जीव परिणमाता है स्वशक्ति से, तब यह बनें प्रश्नका रूप—
स्वयं परिणमन शील द्रव्य को, या नितांत परिणामविहीन ।
अपरिणामि यदि स्वयं, अन्य फिर कर सकता क्या तत्र नवीन ?

---

(116) अपरिणामि—अपरिवर्तित—जिसमें परिणमनन हो । कूटस्थ—अटल, जिसमें परिवर्तन न हो । (117) संसृति—संसार परिभ्रमण । संप्रति—इस काल में । अवसान—अंत ।
(118) तत्र—वहां, उसमें

(११६)

यदि यह कहो कि पुद्गल की जड़-कर्म वर्गणायें वसुरूप—
स्वयं परिणमें कर्ममयीबन, है निमित्त चिद्भाव विरूप ।
तब फिर यह तब कथन कि चेतन उन्हें परिणमाता है म्लान—
मिथ्या स्वयं सिद्ध हो जाता कथन पुरस्सर तव मतिमान !

(१२०)

। निष्कर्ष

यों होता है सिद्ध कि पुद्गल कर्मवर्गणा स्वतः स्वभाव—
कर्मरूप परिणमें; किन्तु हो—तन्निमित्त रागादि विभाव ।
जीवों के परिणामों का वे पा निमित्त बनकर्म विशाल ।
जीव प्रदेशों में बँधते, बन—ज्ञानावरणादिक तत्काल ।

(१२१)

जीव को सर्वथा अबंधक मानने में दोष

पुद्गलवत् यदि जीव स्वयं ही बंधन करता नहीं कभी न ।
और न क्रोधादिक विकार मय परिणम कर वह बनै मलीन ।
यह सिद्धांत भ्रमात्मक है, तब इसका होगा यह परिणाम ।
कहलायेंगे सदा सर्वथा अपरिणामि ही चेतनराम ।

(119) विरूप—विकृत ।

(१२२)

जीव स्वयं रागादि भाव का कर्त्ता है।

स्वयं परिणमित जीव करै नहि यदि क्रोधादि भाव विड्रूप।
कर्म बंध होगा न जीव को फिर इसके परिणाम स्वरूप।
संसृति के अभाव का आता तब प्रसंग-जो दृष्ट विरुद्ध।
अथवा सांख्यमती बनने का आजाता प्रसंग अविरुद्ध।

(१२३)

यदि चेतन में क्रोधादिक का उत्पादक है पुद्गल कर्म।
स्वयं अपरिणामी को कैसे परिवर्तित करता जड़ कर्म?
किसी द्रव्य के निज स्वभाव को पलट नहीं सकता है अन्य।
जड़ कर्मों के तीव्र उदय में जड़ नहि बना कभी चैतन्य।

(१२४)

यदि यह मान्य तुम्हें कि क्रोधमय स्वयं परिणमन करता जीव;
क्योंकि परिणमन उपादान की दृष्टि द्रव्य में स्वतः अतीव।
तब मिथ्या स्वयमेव सिद्ध हो जाता तब प्यारा सिद्धांत।
द्रव्य क्रोध परमाणु जीव को क्रोध मयी करते विभ्रान्त।

(122) विड्रूप—विकारी। अविरुद्ध—निर्विरोध। (124) अतीव—अत्यंत, बिल्कुल। विभ्रांत—विकारी

(१२५)

अभिप्राय यह है कि चेतना परिणामी है स्वतः स्वभाव ।
क्रोधमयी उपयोग करे तब क्रोधी बनता चेतनराव ।
मान युक्त हो मानी बनता, मायाकर मायावी म्लान ।
लोभी मुग्धवृत्ति धारण कर उपादान की दृष्टि प्रमाण ।

(१२६)

जीवों की दो प्रकार परणतियाँ और उनके परिणाम

इससे सिद्ध हुवा निश्चय से निजभावों को कर निष्पन्न ।
जीव उन्हीं का कर्त्ता होता जो उससे होते नहि भिन्न ।
ज्ञानी के परिणाम ज्ञानमय, अज्ञानी के ज्ञान विहीन ।
जीवों की परणतियाँ द्वय–विध होती सतत स्वयं स्वाधीन ।

(१२७)

अज्ञानी जन स्व–पर ज्ञान से शून्य रहा करता मतिभ्रांत ।
पर में सुख दुख मान सदा ही बनता स्वयं विकाराक्रांत ।
फलस्वरूप फिर खुल जाते हैं इसे कर्म बंधन के द्वार ।
ज्ञानी बन जाने पर होता जीवन बंधमुक्त अविकार ।

---

(125) मुग्ध वृत्ति–लालची भाव, मूढ़ता । (126) सतत–निरंतर ।
(127) विकाराक्रान्त–विकारयुक्त

(१२८–१२९)

ज्ञान मयी भावों से होती ज्ञान मयी भावों की सृष्टि ।
कारण के अनुसार कार्य हों निश्चित उपादान की दृष्टि ।
एवं अज्ञानी जन में भी हों जितने जैसे परिणाम ।
वे विवेक से शून्य विकृत हों रागद्वेष रंजित, अविराम ।

(१३०–१३१)

स्वर्णमयी कुंडल का होता यथा स्वर्ण से ही निर्माण ।
लोह पात्र निर्मित होता है लोह धातु से नियम प्रमाण ।
त्यों अज्ञानी जन के होते भाव सदा सद्ज्ञान विहीन ।
ज्ञानी के परिपूर्ण भाव हों ज्ञानमयी पावन अमलीन ।

(१३२)

अज्ञान भाव का स्वरूप, प्रकार एव मिथ्यात्व

जिसके उदय जीव को होती तत्वों की उपलब्धि सदोष ।
वह दूषित अज्ञान भाव है, इसके भेद चार निर्दोष ।
प्रथम भेद मिथ्यात्व विश्रुत है, हो जिससे मिथ्या श्रद्धान ।
जीवाजीवादिक तत्वों में तथा कथित विभ्रांति महान ।

(128) विकृत–विकारी, सदोष । रंजित–रंजायमान, युक्त । अविराम–उसी समय
(132) विश्रुत–प्रसिद्ध । विभ्रांति–विशेष प्रकार का भ्रम, मोह ।

(१३३)

असंयम व कषाय का परिणाम

उदय असंयम का हो तब हों अविरति रूप मलिन परिणाम ।
जिनके विवश पाप तज चेतन व्रत धारण नहि करै अकाम ।
जब कषाय का उदय प्राप्त हो तब कलुषित हों भाव अशेष ।
रागद्वेष मे सना हुवा है जिनसे जन जीवन निः-शेष ।

(१३४)

योग की विशेषता

योग उदय चेष्टाएं होतीं मन वच काय जन्म अविराम ।
इष्टानिष्ट कार्य में होते तब सचेष्ट निश्चेष्ट सकाम ।
यों मिथ्यात्व कषाय असंयम योग वश हुवा जीव-प्रवीण !
सम्यक्दर्शन ज्ञान चरण से वंचित रहता, सतत मलीन !

(१३५)

अज्ञान मयी भावों का परिणाम

भावों का निमित्त पा पुद्गल कर्म वर्गणायें तत्काल ।
ज्ञानावरणदिक वसु विधिकर कर्मरूप धर रहे विशाल ।
यथा उदर में भुक्त असन का रसरुधिरादि रूप परिणाम ।
सप्त धातुमय हो जाता है, त्यों परमाणु परिणामें वाम ।

---

(133) अकाम—बिना किसी सांसारिक भोग की इच्छा के । अशेष—सब । निःशेष—परिपूर्ण । (134) सचेष्ट—चेष्टा सहित । निश्चेष्ट—चेष्टा रहित । सकाम—कामना सहित । (135) भुक्त असन—किया हुआ भोजन । वाम—विकारमयी, विकृत ।

(९४)

अज्ञान में कर्मों की उत्पत्ति किस प्रकार है ?

भ्रमित जीव का होता जिसक्षण त्रिविध विकृत उपयोग नितांत ।
कलुषित भावमयी वह करता आत्म विकल्प तभी मतिभ्रांत ।
क्रोधमग्न क्रोधी बन जाता, मान निरत मानी विभ्रांत ।
यों उपयोग विकृत कर चेतन तत्कर्त्ता बन रहे नितांत ।

(९५)

परिणामन -अज्ञान भाव ही कर्मकर्ता सिद्ध होता है ।

मिथ्यादर्शनज्ञानचरण-रत विविध भ्रांतिवश बन अनजान--
धर्मादिक परद्रव्य ज्ञान–ज्ञेयों को रहता अपना मान ।
जब उपयोग ज्ञेय में होता तब रहता वह निज को भूल ।
पर मे रम तद्रूपज्ञान का कर्त्ता बन, चलता प्रतिकूल ।

(९६)

भूत ग्रस्त जनवत् करता है मंदबुद्धि, संकल्प विकल्प ।
निज में पर, पर मे निज की कर भ्रांत कल्पना अन्तर्जल्प ।
कारण है अज्ञानभाव ही जिससे यह चिद्रूपअनूप ।
पर में होकर मुग्ध स्वयं का भूला परमानंद स्वरूप ।

---

(94) निरत–चूर मस्त । तत्कर्ता–उसका करने वाला । (95) रम–रति कर के ।
(96) अंतर्जल्प–मन में होने वाली कल्पनाएँ ।

(९७/१)

पर में आत्म विकल्प यही है भ्रम मूलक अतिशय अज्ञान !
अज्ञानी अज्ञान भावका यों निश्चित कर्त्ता भ्रमठान ।
निज निज है, पर-पर—एवं जब हो उत्पन्न भेद विज्ञान ।
तब निज पर संबंधित भ्रामक कर्तृभाव का हो अवसान ।

(९७/२)

शंका समाधान

ज्ञान मात्र से नश जाता क्या चिर कर्तृत्व भाव भगवन् !
गुरु कहते—सुन, प्रथम वस्तु का तत्व ज्ञान कर भव्य ! गहन ।
तब सराग समदृष्टि बन करे अशुभ कर्म कर्तृत्व विनाश ।
वीतराग समदृष्टिबन करे पुनः शुभाशुभ कर्म विनाश ।

(९८)

जीव पर द्रव्य का कर्त्ताउपचार से है ।

कहलाता उपचार नयाश्रित घटपट का कर्त्ता चैतन्य ।
इन्द्रियादि करणों का या नो कर्म-कर्म का जो पर जन्य ।
इस प्रकार निज-भिन्न द्रव्य का कर्त्ता है व्यवहार प्रमाण ।
है उपचार मात्र वह केवल, निश्चय पर कर्तृत्व न जान ।

(97/1) अवसान—अंत । भ्रामक—भ्रम में डालने वाला । (98) करणों—साधनों । परजन्य—दूसरों से उत्पन्न होने वाला ।

(९९)

वास्तविक दृष्टि से पर कर्तृत्व मानने में हानि

यदि चेतन पर द्रव्य भाव का कर्त्ता माना जाये नितांत ।
तब चेतन तद्रूप परिणमन कर जड़ बन जाये, मतिभ्रांत !
यतः जीव पर रूप परिणमन कर न बनै चैतन्य विहीन ।
पर कर्त्तृत्व सिद्ध यों होता-निराबुद्धि-भ्रम चिर कालीन ।

(१००)

जीव वस्तुत: अपनी शक्तियो का कर्त्ता है।

घट पटादि में ज्यों न जीव का करता है कर्त्तृत्व प्रवेश ।
पुद्गल कर्म द्रव्य का भी त्यों जीव नही है कर्त्ता लेश ।
तब फिर किस का कर्त्ता चेतन ? सुनो, योग उपयोग अभिन्न ।
आत्म शक्तियाँ है चेतन में उन ही का कर्तृत्व अछिन्न ।

(१०१)

ज्ञानी कर्मों को पौद्गलिक ही जानता है ।

ज्ञानावरणादिक प्रसिद्ध हैं कर्मागम में विविध प्रकार ।
वे परणतियाँ पुद्गल की है, नहि चेतन वे किसी प्रकार ।
स्व-पर द्रव्य की स्व-पर रूप ही परणति होती है स्वाधीन ।
निश्चय नय के इस रहस्य का ज्ञाता ही ज्ञानी अमलीन ।

---

(99) यतः—क्योंकि । निराबुद्धि भ्रम—बिलकुल ज्ञान का बोध । (100) अछिन्न—जिसका खंडन न किया जा सके। (101) अमलीन—स्वच्छ, निर्मल।

(१०२)

अज्ञानी भी पर द्रव्य या भाव का कर्त्ता न होकर अपने विकार भावो का ही कर्त्ता है ।

संसारीजन भाव शुभाशुभ जितने करता बन सविकार ।
उनका वह निश्चित कर्त्ता है, उपादान कारण अनुसार ।
यतः शुभाशुभ रूप परिणमन करता जीव स्वयं स्वाधीन ।
उन भावों का वेदनकर्त्ता तद्भोक्ता भी वही मलीन ।

(१०३)

पर द्रव्य या भाव का कर्तृत्व निषिद्ध है

जो होते हैं जिनद्रव्यों मे गुण एवं पर्याय स्वकीय ।
वे न अन्य मे जा सकते हैं और न आसकते परकीय ।
नहिं संक्रमण गुणों मे संभव; तब कर्मों को जो जड़ जन्य–
किस प्रकार परिणमा सकेगा नियम विरुद्ध 'बंधु ! चैतन्य ?

(१०४)

निष्कर्ष

यों जब जीव कर्म मे गुण या पर्यय नहिं कर्त्ता उत्पन्न ।
उन्हें न कर भी किस प्रकर वह तत्कर्त्ता होगा निष्पन्न ?
जड़ कर्मो का कर्ता जड़ ही, चेतन का चेतन अभिराम ।
जड़ कर्मों का कर्ता कैसे हो सकता चेतन परिणाम ?

---

(102) वेदन–अनुभव। तद्भोक्ता–उसका भोगने वाला। (103) स्वकीय–अपने। परकीय–दूसरे के। संक्रमण–बदलना, संक्रांति, बदलाव। जन्य–उत्पन्न होने वाले। (104) अभिराम–सुन्दर। ललाम–सुन्दर।

(१०५)

शका समाधान

जब कि जीव कर्मों का कर्त्ता इस प्रकार होता प्रतिषिद्ध—
'जीवकर्म कर्त्ता है' जगमें, फिर क्यों यह लोकोक्ति प्रसिद्ध ?
सुनो, बंधु ! शुभ–अशुभ भाव ही करता सदा जीव विभ्रांत ।
जिन्हे देख जीवो में होता कर्त्ता का उपचार नितांत ।

(१०६)

दृष्टात

सुभट समर मे रण करते है, उन्हे विलोकन कर तत्काल ।
लोक कहे साश्चर्य कि नृप ने किया युद्ध कितना विकराल !
पुद्‌गलाणु त्यों कर्मरूपधर यदपि परिणमें विविध प्रकार ।
चेतन तन्निमित्त होता, यों तत्कर्त्तृत्व मात्र उपचार ।

(१०७)

जीव कर्मो का कर्त्ता उपचार स ही है

नय उपचार यही कहता है--जीव कर्म करता उत्पन्न ।
स्थिति बंधन का कर्त्ता या सुख दुख का भोक्ता वही विपन्न ।
कर्म ग्रहण करता, परिणमता कर्म विवश ही वह अविराम ।
यह सब है उपचार कथन ही, लोक जहाँ पाता विश्राम ।

(105) प्रतिषिद्ध–निषिद्ध, अस्वीकार जिसको 'न' कह दिया जावे । (106) तत्कर्तृत्व–उसका कर्त्तापन । साश्चर्य–चकित होकर । (107) तन्निमित्त–उसका निमित्त कारण । विपन्न–जिस पर विपत्ति आई हो । अविराम–तुरंत,तत्काल ।

(१०८)

दृष्टांत

'राजा जैसी प्रजा' विश्रुत है जगती पर लोकोक्ति, निदान—
प्रजा मात्र के गुण दोषों का नृप निमित्त है एक प्रधान ।
अतः दोष-गुण, उत्पादकता का है ज्यों नृप में व्यवहार ।
त्यों जीवों में जड़ कर्मों प्रति, है कर्त्तृत्व मात्र उपचार ।

(१०६)

बंध के कारण और भेद

जैनागम में मिथ्यादर्शन, अविरति एवं योग कषाय ।
यही चार बंधन के कारण प्रतिपादन करते जिनराय ।
भ्रमहोता मिथ्यात्व उदय में, हों कषायवश रागद्वेष ।
अविरति से इंद्रियासक्ति, त्रययोगों से चांचल्य विशेष ।

(११०)

बंध के चार कारणों के तेरह भेद

इनके भेद त्रयोदश, मिथ्या सासादन सम्यक्मिथ्यात्व ।
अविरति समदृक देशविरत वा विरत प्रमत्त इतर विख्यात ।
करण अपूर्व तथा अनिवृत्तिज सूक्ष्मकषाय और उपशान्त ।
क्षीण कषाय सयोग केवली ये हैं गुणस्थान निर्भ्रान्त ।

(108) विश्रुत—विशेषरूप में प्रसिद्ध । (110) निर्भ्रान्त—भ्रांति रहित, ठीक यथार्थ ।

(१११)

निश्चय नय से जीव विकार का नहीं—स्वभाव का कर्त्ता है

शुद्ध दृष्टि से गुण स्थान ये यतः नहीं है जीव स्वभाव ।
पुद्गल कर्मोदय से होते अतः अचेतन सकल विभाव ।
कर्त्ता भोक्ता भी कर्मों का इसी दृष्टि से नहि चैतन्य ।
निश्चय कर्त्ता निज स्वभाव का नहि विकार का-जो पर जन्य ।

(११२/१)

उक्त कथन का समर्थन

गुण स्थान संज्ञक प्रत्यय ही कर्मों के कर्ता निर्भ्रान्त ।
जीव यूं न जड़कर्मों का प्रिय ! कर्त्ता होता सिद्ध नितान्त ।
यह निश्चय नय की कथनी है, जो कि एक है दृष्टि विशेष ।
भिन्न द्रव्य कर्त्तृत्व न जिसमें परिलक्षित होता निःशेष ।

(११२/२)

पति पत्नी संयोग निमित्तज होती जो कोई संतान ।
किसी दृष्टि से पति की या फिर पत्नी की ली जाती मान ।
यों मिथ्यात्वादिक संयोगज हैं जितने परिणाम अशेष ।
होते समुत्पन्न जीवन में पुद्गल कर्म जनित निःशेष ।

---

(111) परजन्य—दूसरों से उत्पन्न होने वाला । (112/1) प्रत्यय—कारण । परिलक्षित—भली भाँति जाना हुआ । निःशेष—परिपूर्ण । (112/2) अशेष—सब ।

(११२/३)

देखें जब परमार्थ दृष्टि ये जीवरूप नहि दिखें नितांत ।
और न पुद्गल रूप बंधु ! वे शुद्ध दृष्टि में रहें नितांत ।
किन्तु सूक्ष्म निश्चय कहता है एक बात गंभीर महान ।
अज्ञानोद्भव कल्पित ही है रागद्वेष परणतियाँ म्लान ।

(११२/४)

इसका यह तात्पर्य कि जो जन मन में धारण कर एकांत
इन्हें जीव के ही कहता या कहता-पुद्गल के, वह भ्रान्त ।
ज्यों संयोगज पुत्र में नहीं, पति पत्नी का हो एकांत ।
त्यों रागादिक परणतियाँ भी संयोगज ही है निर्भ्रान्त ।

(११३)

भव्य ! जीव में ज्यों है दर्शन ज्ञान रूप उपयोग अनन्य ।
त्यों यदि जीवमयी ही होवें क्रोध मान रागादि अनन्य ।
तब फिर जीव और पुद्गल में हुई एकता ही सम्पन्न ।
यों अजीव एवं सजीव में अनन्यत्व होगा निष्पन्न ।

(112/3) अज्ञानोद्भव—अज्ञान से उत्पन्न होने वाले । (112/4) संयोगज—संयोग से उत्पन्न । (113) अनन्य—अभिन्न, तादात्म्य संबंध वाला ।

(१३६/१)

पुद्गल कर्मरूप धारण कर बँध रहता है चेतन संग ।
जिसके उदय-योग में चेतन लगे बदलने अपना रंग ।
अश्रद्धान अज्ञान, असंयमरूप विविधकर नव परिणाम ।
कर्ता बन रहता, तन्मय हो अभिनय कर वह आठों याम ।

(१३६/२)

बध कब होता और कब नही ?

सुख दुख-कर्मफलास्वादन कर उदयकाल में जब अविराम –
जीव विकारी बन रहताहै, रागद्वेषमय कर परिणाम–
तब बंधता है; किन्तु मानले यदि सुखदुख वह एक समान–
तदा साम्य भावों से संवर-होगा-आस्रव का अवसान ।

(१३६/३)

द्रव्य कर्म के उदय मात्र से होता नहीं जीवको बंध ।
उपसर्गों में भी समभावी बन रहता निश्चित निर्बंध ।
राग–द्वेष पर विजय प्राप्तकर बन समाधि में लीन पुमान् ।
कर्म शक्तियाँ इक क्षण में ही- क्षीण बना, पाता निर्वाण ।

(136/1) आठोयाम–आठ पहर–चौबीस घंटे–निरंतर। (136/3) पुमान्–महापुरुष।

(१३६/४)

विधि के उदय जन्य सुख दुःख में यदि रति अरति क्रिया अनिवार्य–
मान चलें बो बुद्धि पुरस्पर तप ध्यानादि न हों सत्कार्य ।
यतः निरंतर हो रहता है जीवों में कर्मोदय वाम ।
अतः बंध अनिवार्य सिद्ध हो, मुक्ति असंभव हो निष्काम ।

(१३७)

पुद्गल कर्म संग जीवों के होते रागादिक परिणाम ।
यथा रक्त होकर परिणमती सुधा-हरिद्रा मिल अविराम ।
यों मानें तो जीव कर्मद्वय हों रागादि भाव सम्पन्न ।
तब पुद्गल को भी चेतन वत् बंध भाव होगा निष्पन्न ।

(१३८)

आत्मा के रागादिभाव पुद्गल कर्मों से भिन्न है

दृष्ट विरुद्ध मान्यता है यह, यतःराग-चेतन परिणाम–
पुद्गल कर्म परिणमन से है भिन्न भाव सर्वथा सकाम ।
कर्मोदय केवल निमित्त है, जो कि जीव से रहता भिन्न ।
कामी जन परनारि निरख ज्यों होता स्वयं विकारापन्न ।

(136/4) पुरस्सर–पूर्वक, सहित । वाम–विकार रूप । (137) सुधा–चूना, कलई । हरिद्रा–हल्दी । मिल–मिलकर ।

(१३९)

पुद्‌गल के परिणाम जीव से भिन्न है

ऐसे ही पुद्‌गल में होते कर्म रूप जो विविध विकार ।
वे पुद्‌गल मय ही होते हैं, ज्ञानावरणादिक साकार ।
तन्निमित्त यद्यपि रागादिक चिद्विकार होते तत्काल ।
फिर भी पुद्‌गल-पुद्‌गल एवं जीव–जीव रहता त्रयकाल ।

(१४०)

निष्कर्ष

है सारांश यही कि पौद्‌गलिक परणतियाँ वसुकर्म स्वरूप–
जीवों या उनके भावों से है स्वतंत्र निश्चित जड़ रूप ।
त्यों ही जीव भाव रागादिक है, स्वतंत्र कर्मो से भिन्न ।
यों जड़-चेतन की परणतियाँ भिन्न भिन्न ही है, न अभिन्न ।

(१४१)

शंका समाधान

जीव कर्म बद्ध है या अबद्ध?

कर्मजीव में बद्ध और संस्पर्शित है या नहि भगवन् ?
क्या यथार्थ इसमें रहस्य है, सरल करें–यह प्रश्न गहन ।
बंधु ! सुनो, है जीव कर्म से बद्ध और संस्पर्शित म्लान ।
यह व्यवहार कथन सम्यक् है, निश्चय बद्ध नहीं, अम्लान ।

(141) संस्पर्शित–छूबे हुए । म्लान–मलीन ।

(१४२/१)

कर्म बद्धता और अबद्धता—दो नयों की दो दृष्टियां है

कर्मजीव से बद्ध हुए हैं, नहीं बंधे है, यों दो पक्ष—
दिखते है व्यवहार और निश्चय से यद्यपि पक्ष विपक्ष;
किन्तु उभय नय पक्ष मानसिक है विकल्प ही एक प्रकार ।
समयसार विज्ञान धनमयी निर्विकल्प ही है अविकार ।

(१४२/२)

सर्व नयों का पक्षपात तज साम्यभाव द्वारा चिद्रूप ।
निर्विकल्प बन सत्समाधि में तन्मय हो शुद्धात्म स्वरूप ।
राग द्वेष मय तज समस्त ही वैभाविक परणतियाँ म्लान ।
निर्विकार शुद्धोपयोग में करता चिदानंद रसपान ।

(१४३/१)

पक्षातिक्रांत बन आत्म स्वरूप मे रमना ही समयसार है

उभयनयों द्वारा प्रतिपादित वस्तु स्वरूप समझ अम्लान ।
कभी किसी नय का नहि करता जब किंचित् भी पक्ष, निदान ।
तब समस्तनय पक्ष परिग्रह से विहीन बन साधु प्रवीण ।
समयसार सर्वस्व प्राप्त कर निष्कलंक बनता स्वाधीन ।

(१४३/२)

समयसार पक्षातिक्रात है

विश्व चराचर प्रकट जानते यद्यपि श्री अरिहंत समस्त ।
मतिश्रुतादि ज्ञानों के भी त्यों ज्ञाता दृष्टा मात्र प्रशस्त ।
कभी किसी भी नय का करते पक्षपात नहिं किन्तु नितान्त ।
समयसार ज्ञाता भी त्यों ही होता नय पक्षातिक्रांत ।

(१४३/३)

यतः एकनय पक्ष स्वयं ही मिथ्यादर्शन है—एकांत ।
एक नयाश्रित मुख्य कथन में चरित मोह रहता सम्भ्रांत ।
यतः राग का समावेश है इकनय मुख्य कथन में मित्र !
अतः पक्ष बिन श्रुतज्ञानी भी वीतराग सम महापवित्र ।

(१४४)

यों सम्पूर्णनयों के पक्षों और विपक्षों से अतिक्रांत ।
ज्ञाता 'समयसार' कहलाता निर्विकल्प निस्पृह निर्भान्त ।
सम्यक्दर्शन ज्ञान उसी के व्यवहाराश्रित हैं व्यपदेश ।
कर्त्ता-कर्म, गुण-गुणी ज्ञाता, आदि भेद निश्चय नहि लेश ।

इति कर्त्ताकर्माधिकारः

(143/2) प्रशस्त—उत्तम । पक्षातिक्रांत—पक्ष से रहित । (143/3) वितान—चंदोवा, घेरा । (144) निस्पृह—बिना किसी वासना वाला, निरेच्छ । व्यपदेश—नाम भेद ।

पुण्य-पापाधिकार

(१४५)

कर्म परिचय

कर्म वही जो लिपट रहे हैं पुद्गलाणु चेतन सँग म्लान ।
कर्म मात्र बंधन का कारण, बंध दृष्टि सब कर्म समान ।
अशुभ-कुशील, सुशील-कर्म शुभ, द्विविध कर्मगत है व्यवहार ।
निश्चय से कैसा सुशील वह जिसने भरमाया संसार ?

(१४६)

बधक दृष्टि से कर्मो मे समानता

पग में पड़े स्वर्ण की बेड़ी या फिर पड़े लोह की म्लान—
लोह स्वर्ण का भेद भले है, बंध दृष्टि द्वय एक समान ।
त्यों शुभ हो या अशुभ, कर्म-आखिर बंधन ही है मतिमान !
भव संतति में यन्निमित्त यह पीड़ित है चैतन्य महान ।

(१४७)

संबोधन

अतः संत ! इन बंधन शीलों से न कभी तुम करना राग ।
दूर रहो संसर्ग मात्र से मोहजन्य ममता परित्याग ।
तव अनादि से जिनके कारण हुवा आत्म स्वातन्त्र्य विनाश ।
इन बंधन शीलों से फिर क्यों सुख पाने की रखता आश ।

(१४८)

दृष्टाँत द्वारा पुण्य पाप कर्मों का निषेध

बुद्धिमान जब अनुभव करता—अपना सहयोगी मक्कार—
या चरित्र से हीन व्यक्ति है, उसे छोड़ते लगे न वार।
वह ठुकरा कर उसे न करता फिर उससे संसर्ग नवीन।
भाषण भी करना न चाहता, उदासीन बन रहे प्रवीण।

(१४९)

कर्म प्रकृति ठगिनी अनुभव कर त्यों ही ज्ञानी साधु महान।
प्रकृति मात्र को हेय जान कर करता है परित्याग समान।
यथा चतुर वनहस्ति हस्तिनी को लख कामातुर भरपूर।
निज बंधन का हेतु समझकर उससे रहता दूर हि दूर।

(१५०)

बंध-मुक्ति कब और किस प्रकार ?

जीव कर्म बंधन से बँधता बन रागादि विकाराक्रांत।
वर विराग वैभव प्रसाद पा-पाता मुक्ति वही निर्भ्रान्त।
सार भूत भगवज्जिनेन्द्र का यही दिव्य संदेश महान।
अतः न किंचित् कर्मजाल में कभी उलझना ए मतिमान !

(१५१)

वीतराग शुद्धात्मतत्व ही समयसार है ब्रह्म स्वरूप ।
मुनि, ज्ञानी, केवलि कहलाता वही शुद्ध चैतन्य अनूप ।
चित्स्वभाव संस्थित योगी जन स्वानुभूति का कर रसपान ।
नित्य निरंजन निर्विकार बन पाते पद निर्वाण महान ।

(१५२)

मुक्ति के लिये स्वानुभूति का कितना महत्व है ?

दृढ़ प्रतिज्ञ बन, व्रत धारण कर पालन करता शील निदान ।
दुर्धर तप करता अरण्य में, सहे परीषह अतुल महान !
किंतु नहीं दुर्भाग्य वश हुवा जिन्हें प्राप्त परमार्थ प्रवीण ।
उन्हें कहाँ से मुक्ति मिलेगी, जो है स्वानुभूतिरसहीन ?

(१५३)

है परमार्थ ज्ञान से जिनकी शून्य, दृष्टियां राग मलीन ।
वे व्रत नियमशील पालन या तप धारण कर भी है दीन ।
उन्हें मुक्ति संप्राप्त न होती बाह्यवृत्ति में रहकर लीन ।
परमसमाधि–लीन मुनि पाते–त्वरित मुक्ति-सुस्थिर स्वाधीन ।

---

(१५१) संस्थित–स्थिर स्वानुभूति–आत्मानुभव । (१५२) अरण्य–वन ।
(१५३) त्वरित—शीघ्र ।

(१५४)

स्वानुभूति शून्य पुण्य मुक्ति में सहायक नहीं

जिसकी अंतरात्मा रहती परम-अर्थ से शून्य नितान्त ।
वह अज्ञानी मोहभाव कर केवल पुण्य चाहता भ्रांत ।
जो संसार परिभ्रमण एवं बंध हेतु है सिद्ध, प्रवीण !
उससे मुक्ति कहाँ से होगी, बिन समाधि में हुए विलीन ।

(१५५)

वास्तविक मुक्ति मार्ग क्या ?

जीवाजीवादिक तत्वों की श्रद्धा है सम्यक्त्व महान ।
तत्पूर्वक तत्त्वों का अवगम कहलाता है सम्यक्ज्ञान ।
रागद्वेष मय वृत्तिहीन वर वीतरागता है चारित्र ।
इनकी एक रूपता सम्यक् मुक्ति मार्ग है परम पवित्र ।

(१५६)

बाह्य वृत्तियों में उलझने से मुक्ति नहीं

निश्चयार्थ साधक समाधि है, उसे त्याग कर जो विद्वान् ।
केवल बाह्य वृत्तिरत रहकर उससे चाहे मुक्ति महान ।
उसे कहाँ से मुक्ति मिलेगी, रहकर सत्समाधि से दूर ।
पथ परमार्थ ग्रहण कर ऋषिगण कर्मकुलाचल करते चूर ।

---

(१५४) परमअर्थ—शुद्ध आत्म स्वरूप । (१५५) अवगम—ज्ञान-जानपना ।
(१५६) कुलाचल—पहाड़ पर्वत ।

(१५७)

सम्यक्दर्शनादि गुणो मे विकार का कारण

सत्ता में आत्मस्थ दुष्ट मोहादिकर्मअरिअष्ट अशेष ।
यही आत्म बंधन कारण बन संतापित करते निःशेष ।
यथा वस्त्र की उज्ज्वलता को मल करता है बंधु ! मलीन ।
सम्यक्दर्शन की आभा त्यों करता है मिथ्यात्व मलीन ।

(१५८-१५९)

उज्ज्वल आभा यथा वस्त्र की मल करता है मलिन प्रवीण !
त्यों अज्ञान भाव से होता जीव ज्ञान गुण विकृत मलीन ।
यथा वस्त्र की उज्ज्वल परणति मल से होती मलिन कुरूप ।
त्यों कषाय-रँग बनें कषायी रागी द्वेषी जीव विरूप ।

(१५९/२)

कर्मोदय से आत्मगुणों मे विकार होता है—विनाश नही

दर्शन ज्ञान चरित्र आदि गुण नहि समूल हों कभी विनष्ट ।
बद्ध कर्ममल द्वारा केवल शुद्ध परिणमन होता नष्ट ।
समकित बन मिथ्यात्व परिणमें, ज्ञान बनें अज्ञान, निदान ।
वर चरित्र गुण परिणत होता पाप कषाय रूप बन म्लान ।

---

(१५७) आत्मस्थ—आत्मा में स्थित—बंधे हुए। (१५८) सच्चरित्र—श्रेष्ठ चरित्र।

(१६०)

किमाश्चर्यमत: परम्

सर्वज्ञान दर्शन स्वभाव से होकर भी सम्पन्न, प्रवीण ।
स्वापराध वश जीव कर्मरज-आच्छादित हो बना मलीन ।
चिर अज्ञान भाव से पीड़ित भ्रमित हुआ सारा संसार ।
होकर भी विज्ञान घनमयी स्वात्म तत्व जाने नहि—सार ।

(१६१/१)

वास्तव मे आत्मविकार होना ही गुणो का घात है

कारण है सम्यक्त्व मुक्ति का प्रतिपादित जिनवचनप्रमाण ।
प्रति पक्षी मिथ्यात्व उसी का बँधा हुवा दुष्कर्म महान ।
उस मिथ्यात्व कर्म का होता जब जब उदय तीव्र या मन्द ।
जीव स्वरूप भूलकर तब ही मिथ्यादृष्टि बने मतिमंद ।

(१६१/२)

मिथ्यात्व द्वारा सम्यक्त्व की हानि

मद्य पान कर यथा शराबी होकर मत्त बने उन्मत्त ।
हा हा हू हू ही ही करता-फिरता बना विकारासक्त ।
त्यों मिथ्यात्व कर्मवश चेतन भूल रहा शुद्धात्म स्वरूप ।
अहंकार ममकार मगन हुं विषयातुर बन रहा विरूप ।

(१६२)

अज्ञान से ज्ञान भाव का पराभव

श्री जिनेन्द्र ने आत्म ज्ञान को आच्छादित करने वाला—
कहा कर्म अज्ञान अपरिमित अंधकार वत् ही काला।
यथा सूर्य किरणों को रजकण ढक लेते हैं, या घनश्याम।
अज्ञानाच्छादित रह त्यों ही चेतन अज्ञ बना अविराम।

(१६३/१)

कषाय से वीतरागता की हानि

वीतरागता सुखद आत्म का सम्यक् चरित धर्म अभिराम।
उसे नष्ट कर दुष्ट कषायें जनतीं सतत मलिन परिणाम।
मलिन भाव रत बन कषाय से चेतन बनें चरित्र विहीन।
हो कुकर्म रत नित कर्मों का आस्रव बंधन करता दीन।

(१६३/२)

बंधन मुक्ति का उपाय

पुण्य पाप द्वैविध्य कर्म में प्रतिपादित जिन वचन प्रमाण।
वह व्यवहार दृष्टि से सम्यक्, निश्चय से सब कर्म समान।
उभय कर्म से विरत-स्वानुभव रत रह करता समरस पान।
वही कर्म बंधन विमुक्त हो पाता पद निर्वाण महान।

(१६३/३)

विषम कषायी जीव मुक्त नहीं हो सकता

जिसके मन वच काय कषायों या विषयों मे रहें निमग्न।
वह संसारासक्त मुक्त नहि हो सकता होकर भी नग्न।
साधुजनों की सतत साधना रहती आत्म सिद्धि के अर्थ।
स्वानुभूति रत बन जाने पर पुण्य पाप की चर्चा व्यर्थ।

(१६३/४)

स्वानुभूति रत रह न सके तो उसका रखकर लक्ष्य महान–
व्रत तप संयम शील साधना–लीन रहे जिन वचन प्रमाण।
यह व्यवहार मुक्ति-पथ-साधन प्रथम भूमिका में अभिराम–
इसे त्याग स्वच्छंद बना तो कहाँ मिलेगा फिर विश्राम?

इति पुण्यपापाधिकारः

आस्रवाधिकार

(१६४)

आस्रव का स्वरूप

आस्रव है मिथ्यात्व, अविरमण योग, कषाय अनेक प्रकार।
जीव और पुद्गल दोनों का भिन्न भिन्न परिणाम विकार।
इनमें जो जीवाश्रित होते मिथ्यात्वादि मलिन परिणाम।
वे अनन्य ही है जीवों के सापराध उपयोग सकाम।

(१६५)

पुद्गल भी ज्ञानावरणादिक कर्म प्रकृति बन विविध प्रकार।
होता स्वयं परिणमित चेतन के शुभ अशुभ भाव अनुसार।
आस्रव है यों परस्पराश्रित–कर्मोदय निमित्त पा जीव–
राग द्वेष करता, इससे फिर कर्म रूप परिणमे अजीव।

(१६६)

वीतराग सम्यक्दृष्टि के बंध का अभाव

वीतराग समदृष्टि न करता आस्रव एवं बंध नवीन।
बद्ध कर्म ज्ञाता ही रह वह उदासीन बन रहे प्रवीण।
बंध मूल मिथ्यात्व भाव है सर्व प्रमुख चैतन्य विकार।
जिससे जीव मोह में फँस कर मत्त हो रहा विविध प्रकार।

---

(१६४) अविरमण–अविरति–पर वस्तु में आसक्ति। सकाम–विषयों की कामना सहित। (१६५) परिणमित—परिवर्तित।

(१६७)

आस्रव का उदाहरण

चुम्बक सँग स्वयमेव सुई में चञ्चलता होती उत्पन्न।
त्यों रागादिविभाव परिणमन से द्रव्यास्रव हो निष्पन्न।
ज्यों संतप्त लोह जल में पड़ उसे खींचता अपनी ओर।
त्यों कषाय संतप्त चेतना कर्मास्रव करती है घोर।

(१६८)

उदय में आ चुकने पर कर्म की दशा

फल पकने पर यथा वृक्ष से भू पर आ पड़ता तत्काल।
पुनः वृन्त में नहि जुड़ता वह लाख यत्न भी किये विशाल।
त्यों ही बद्ध कर्म उदयावलि में आ फल देता है इक बार।
कर्म भाव च्युत हो रहता, फिर उस से जीव न हो सविकार।

(१६९)

कर्म की सत्ता मात्र आस्रव का कारण नहीं

पूर्व बद्ध जो कर्म बच रहे सत्ता में ज्ञानी के शेष—
पृथ्वी पिंड समान न उसमें द्रव्यास्रव कर सकें अशेष।
मुष्टि बद्ध विषवत् रहते वे, अतः न करते रंच विकार।
कार्माण देहोपबद्ध रह ज्ञानी पर कर सकें न वार।

---

(167) संतप्त—अत्यंत उष्ण, गर्म। वृन्त—गुच्छा। कर्मभावच्युत—कर्मदशा रहित।
(169) मुष्टिबद्ध—मुठ्ठी में बंधा हुआ। देहोपबद्ध—शरीर से बंधा हुआ।

(१७०)

ज्ञानी निरास्रव क्यों है ?

ज्ञानी जीव निरास्रव रहता, यतः बंधके कारण चार—
मिथ्यादर्शन अविरत्यादिक, पूर्व किया इनका निर्धार।
अज्ञानी इनमें रत होकर बंध किया करता बन म्लान।
नहि बंधन की कारण होती ज्ञानी की परणति अम्लान।

(१७१)

ज्ञानी को आस्रव कब और क्यों होता है ?

ज्ञानी को जो किंचित् आस्रव-बंध कहा, उसका यह अर्थ—
जब तक सूक्ष्म कषायें रहतीं तत्कृत कर्म बंध भी सार्थ।
जब जघन्य ज्ञानादि गुणों कर परिणत होता जीव, प्रवीण !
तब कषाय कर बँध रहता; यूँ-निःकषाय ही बँधनहीन।

(१७२/१)

शका-समाधान

जब कषाय नहि नष्ट हुई तब कैसे ज्ञानी है निर्बन्ध ?
भव्य ! न सद् दृग ज्ञान चरण से कभी जीव को होता बंध।
किन्तु जघन्य भाव परिणत हो जब रत्न त्रय कर्माधीन—
तब होती कर्मास्रव एवं बंधमयी परिणति भी हीन।

(१७०) अम्लान—शुद्ध।

(१७२/२)

एक ज्ञातव्य रहस्य

एक रहस्य यहाँ जो ज्ञानी करता है रागादि विभाव--
वे अबुद्धिपूर्वक होते हैं, अतः बंध का कहा अभाव।
छद्मस्थों को हीन दशा मे कर्मोदय निमित्त से राग--
होता, अतः उन्हें मिलता ही रहता सदा बंध में भाग!

(१७२/३)

और सुनो, ज्ञानी जन रुचि से करता नहि रागादि अशेष।
अतः न संसृति का कारण है तज्जन्यास्रव बंध विशेष।
इसी दृष्टि से कहा निरास्रव, किन्तु अबुद्धिजन्य अनुराग--
रहने से बंधन भी होता, बंध हीन है भाव-विराग।

(१७३)

वास्तव मे रागद्वेष मयी परिणाम ही बध का कारण है

सत्ता में रहता ज्ञानी के पूर्व बद्ध प्रत्यय का योग।
तदपि नहीं बंधन का कारण--माना वह प्रत्यय संयोग।
कर्मोदय में जबकि ज्ञान का राग द्वेष मय हो परिणाम--
पुद्गलाणु तब कर्म बन बँधैं जीव संग परिणत हो वाम।

(१७२/२) छद्मस्थों--अल्पज्ञानियों। (१७२/३) संसृति--संसार परिभ्रमण।
(१७३) तज्जन्यास्रव--उससे होने वाला आस्रव। प्रत्यय--कारण।

(१७४)

बद्ध कर्म उदय मे कब आते है ?

एक पुरुष ने बाला कन्या से विवाह कर लिया अकाल--
किन्तु नहीं उपभोग योग्य वह हो जाती बाला तत्काल।
यथा समय तरुणी बन बाला होती जब रति करने योग्य--
तब आकर्षण का बनती है केन्द्र वही एवं उपभोग्य।

(१७५)

त्यों नवीन कर्मों का होते ही संयोग न वे तत्काल--
फल देने के योग्य कहे हैं, सत्ता में ही रहें अकाल ।
जब वे यथा समय अवसर पा उदय भाव को हों संप्राप्त ।
तब चेतन सुख दुख का अनुभव कर होता बंधन को प्राप्त ।

(१७६)

ज्ञानी के निरास्रव रहने का कारण

किंतु सुदृष्टि प्राप्त संज्ञानी-जीव हिताहित अपना जान--
सुख दुख में सम भाव प्राप्त कर रागी द्वेषी बनें न म्लान।
इस कारण वह रहे अबंधक आस्रव भाव--रहित अम्लान।
रागादिक के असद्भाव में सत्व उदय नहि बंधक जान।

(१७६) सत्व--सत्ता।

(१७७)

सम्यक्दृष्टिजीव के होते राग द्वेष मोहादि न म्लान।
मलिन भाव बिन केवल प्रत्यय आस्रव हेतु न हों, मतिमान !
जब तक अपने भाव विकारी करे न चेतन, तावत् लेश—
कर्म वर्गणाओं से किंचित् बँधते नहि सर्वात्म प्रदेश।

(१७८)

आस्रव और बंध के कारण

ज्ञानावरणादिक वसु कर्मों के बंधन में कारण चार—
मिथ्या दृक्, कषाय, अविरति सह योग आत्म के प्रमुख विकार।
इनका कारण पूर्वबद्ध कर्मों का उदय कहा भगवान्।
इनकी अनुपस्थिति में होते कभी न आस्रव-बंधन म्लान।

(१७९)

यथा मनुज के उदर मध्य जो जाता अन्न-पान-आहार—
जठर अग्नि के माध्यम से वह परिणमता है विविध प्रकार।
रस से रुधिर मांस मज्जा वा वसा अस्थि वीर्यादिक रूप।
विविध भाँति स्वयमेव परिणमित सप्त धातु मय हों तद्रूप।

---

(१७७) सर्वात्मप्रदेश—आत्मा के सम्पूर्ण प्रदेश।

(१८०/१)

त्यों चेतन जब निजस्वरूप से विचलित होकर कर्माधीन—
पूर्व बद्ध कर्मोदय कारण राग द्वेष कर बनें मलीन।
ज्ञानी आस्रव बंध न करता, अज्ञानी रागादि विकार—
कर ज्ञानावरणादिक कर्मों से बँधता है विविध प्रकार।

(१८०/२)

ज्ञानी का यह अर्थ कि जो है रागद्वेष मोहादि विहीन।
वीतरागता बिना न होती कभी शुद्ध परणति स्वाधीन।
शास्त्र ज्ञान से आत्म तत्व को—समझ, न कर मिथ्या श्रद्धान।
पाप कषाय प्रवृत्ति विरत हो, सम्यक्ज्ञानी वही महान।

इति आस्रवाधिकारः

संवराधिकार

(१८१)

संवर का लक्षण, कारण एवं भेद विज्ञान निदर्शन

आस्रव का रुकना संवर है, उसका हेतु भेद विज्ञान।
आत्म तत्व उपयोगमयी है, क्रोधादिक से भिन्न महान।
दर्शन ज्ञानमयी होता है चेतन का उपयोग, प्रवीण !
उससे भिन्न क्रोध मानादिक है कषाय की वृत्ति मलीन।

(१८२)

जीव का उपयोग कर्म नोकर्म से भी भिन्न है

न हि ज्ञानावरणादि कर्ममय परिणमता उपयोग, निदान।
शरीरादि नोकर्मों से भी उसकी सत्ता भिन्न महान।
नहि उपयोग मध्य करते है कर्म और नोकर्म प्रवेश।
दोनों ही जड़रूप, कभी चैतन्यमयी परिणमें न लेश।

(१८३)

उल्लिखित भेद विज्ञान से संवर का लाभ

एवं भेदज्ञान से हो जब जीव स्वस्थ, मिथ्यात्व विहीन।
उसी समय शुद्धात्म तत्व का दर्शन होता उसे नवीन।
शुद्ध भावरत बन करता नहि फिर किंचित् रागादि मलीन।
जीवन में कर्मास्रव इससे हो जाता है स्वयं विलीन।

---

(१८३) विलीन—गायब।

(१८४)

उदाहरण

पावक का संयोग स्वर्ण पा होकर भी संतप्त निदान—
स्वर्ण पना नहि तजे तनिक भी; किन्तु निखर बनता अम्लान।
त्यों ज्ञानी भी घोर असाता-उदय जन्य सह तीव्र प्रहार—
नहि स्वभाव से विचलित होता रंचमात्र भी किसी प्रकार।

(१८५)

जीव की प्रति बुद्ध-अप्रतिबुद्ध दशा

इस प्रकार ज्ञानी सुदृष्टि से आत्म तत्व अनुभव कर शुद्ध,
पर को अपना मान, न रत हो, वही वस्तुतः है प्रतिबुद्ध।
अज्ञानी अज्ञान तमावृत रह कर बनें विकाराक्रांत।
नित पर द्रव्य भाव अपनाकर अप्रतिबुद्ध रहता दिग्भ्रांत।

(१८६)

परमात्मा कौन बनता है ?

अनुभव कर शुद्धात्म तत्व का जो बन रहता है तल्लीन।
वह शुद्धात्म ध्यान से करता शुद्ध आत्म ही प्राप्त प्रवीण।
किन्तु अशुद्ध अनुभवन करने वाला रागी जीव मलीन—
अपने को अशुद्ध ही पाता अप्रतिबुद्ध संज्ञान-विहीन।

---

(१८५) प्रतिबुद्ध—जिसमें ज्ञान जाग्रत हुआ है, ज्ञानी। तमावृत—अंधकार से ढका हुआ। (१८६) संज्ञान—सम्यग्ज्ञान।

(१८७)

सवर कब और किस प्रकार होता है ?

शुभ या अशुभ वचन मन तन की वश प्रवृत्तियाँ कर निःशेष
निजस्वरूप में निज के द्वारा शांत भाव से करै प्रवेश ।
सम्यक् दर्शन ज्ञान चरणयुत् सतत स्वानुभवलीन प्रवीण—
अन्य वस्तु की बांछाओं से रहकर विरत स्वस्थ स्वाधीन ।

(१८८)

बाह्याभ्यंतर सर्व संग से होकर पूर्ण मुक्त, निष्काम ।
आत्म द्वार पाकर निजात्म को उसमें ही करता विश्राम ।
कर्म और नो कर्म द्रव्य पर नहिं किंचित् भी देकर ध्यान ।
अनुपम आत्मध्यान रत होकर करता चिदानन्द रसपान ।

(१८९)

वह शुद्धात्मतत्त्व का ज्ञाता दृष्टा स्वानुभूति संलीन ।
आत्माश्रय ले बन जाता है—पावन कर्म कलंक विहीन ।
संवर की बस यही रीति है—ज्ञाता दृष्टा रह अम्लान ।
रागद्वेष मय सर्व विकृति तज करना चिदानंद रस पान ।

---

(१८७) निःशेष—समस्त ।

(१९०)

संवर का क्रम

राग द्वेष का मूल जिन कथित कर्मशक्तियाँ ही हैं म्लान ।
जो मिथ्यात्व कषायादिक जड़रूप, कथित हैं अध्यवसान ।
इनके उदय काल रागादिक भाव जीव कर विविध प्रकार ।
कर्म बन्ध करता, कर्मों से देह, देह-प्रतिफल संसार ।

(१९१)

रागद्वेष मोहादि विकारी भाव सतत आस्रव के द्वार ।
ज्ञानी बने निरास्रव, इनका कर अभाव, निज रूप सँभार ।
यतः बिना कारण न कार्य हो यही प्राकृतिक वस्तु-विधान ।
आस्रव भाव विकार न हों तो, आस्त्रव का भी हो अवसान ।

(१९२)

सवर से लाभ

कर्मों का आस्रव रुकने से, नो कर्मों का भी अविराम—
होता सहज विराम नियम से, आत्म तभी पाता विश्राम ।
कर्म तथा नो कर्मों का जब संवर हो परिपूर्ण पवित्र ।
तब संसार संसरण का भी अंत स्वयं हो जाता, मित्र !

इति संवराधिकार

(१९०) अध्यवसान—विकारी भाव । इसके दो भद हैं १ जीव गत २ पुद्गलगत । जीवगत अध्यवसान—मिथ्यात्व रागद्वेषादि भाव। पुद्गल—अध्यवसान—मिथ्यात्व कषायादि शक्ति परिणत कर्म प्रकृतियां । प्रतिफल—जो बदले में प्राप्त हो । (१९१) यत—क्योंकि । (१९२) विराम—रुकावट । विश्राम—शांति । संसरण—परिभ्रमण ।

निर्जराधिकार

(१९३)

सम्यक्दृष्टि के भोग भी निर्जराके निमित्त हैं

जड़-चेतन द्रव्यों का करता जो सुदृष्टि ऐंद्रिय उपभोग ।
कर्म निर्जरा का निमित्त वह बन रहता है सहज नियोग ।
यतः भोग में तन्मय हो नहि रस लेता वह रंच प्रवीण ।
यों नव कर्म नहीं बँधते हे, उदयागत हो जायें क्षीण ।

(१९४)

द्रव्य निर्जरा मे भाव निर्जरा कारण है

पर द्रव्यों के भोग समय जो सुख दुख होते हैं उत्पन्न ।
उन्हें जानता, किन्तु न होता तन्मय स्वयं विकारापन्न ।
यतः कर्मफल में सुदृष्टि को विद्यमान रहता समभाव,
अतः न नव कर्मों से बँध कर, बद्ध कर्म करता वह छार ।

(१९३) ऐन्द्रिय—इन्द्रियों संबंधी । नियोग—सगम । उदयागत—उदय में आये हुए ।
(१९४) बद्धकर्म—बंधे हुए कर्म । छार—नष्ट ।

(१९५)

दृष्टांत द्वारा ज्ञान सामर्थ्य प्रदर्शन

विष भक्षण कर भी कुमृत्यु से ज्यों बच जाए वैद्य प्रवीण ।
त्यों उदयागत कर्म फलों में ज्ञानी रहता बंध विहीन ।
भक्षण पूर्व नष्ट कर देता वैद्य मंत्र से ज्यों विष शक्ति ।
त्यों ज्ञानी नव बंध न करता सुख दुख भोग बिना आसक्ति ।

(१९६)

दृष्टांत द्वारा वैराग्य सामर्थ्य प्रदर्शन

यथा व्याधि के प्रतीकार हित करके भी जन मदिरा पान–
मत्त न होता, यतः पान से पूर्व मिलाता औषधिजान ।
त्यों यदि अरतिभाव रत रह कर करना पड़ जाए उपभोग ।
नूतन कर्म न बाँध, पुरातन का करता वह सहज वियोग ।

(१९७/१)

वैराग्य द्वारा निर्जरा का समर्थन

उदासीन रह सेवन कर भी सेवक नहि बनता समदृष्टि ।
नहि सेवन कर भी रागीजन करता सतत बंध की सृष्टि ।
यथा सेवकों द्वारा स्वामी हित हो जो आदान प्रदान ।
स्वामी ही तल्लाभ हानिमय प्रतिफल पाता नियम प्रमाण ।

(१६७/२)

हैं सुदृष्टि में निहित शक्तियाँ ज्ञान और वैराग्य महान ।
औदासीन्य भावरत रह वह विषय विरत रहता अम्लान ।
वीतरागता से परिप्लावित अन्तदृष्टि स्वस्थ स्वाधीन ।
रहता बंध विहीन, किंतु नित रागी करता बंध नवीन ।

(१६८)

सम्यक्दृष्टि का स्व-पर मे सामान्य प्रतिभास

श्री जिन कथित विविध कर्मों के है विपाक मय जो परिणाम,
मम स्वभाव नहि वे समग्रतः मैं इकज्ञायक भाव ललाम ।
यों संदृष्टि सतत रहता है आत्मसाधना में तल्लीन ।
वीतराग दर्शन प्रसाद से उसके होते बंधन क्षीण ।

(१६९)

सम्यक्दृष्टि का स्व-पर मे विशेष प्रतिभास

पुद्गल कर्म विपाक जनित जो होते है रागादि विभाव ।
नहि कदापि ये ममस्वभाव है, मम स्वभाव चिर ज्ञायकभाव ।
रागद्वेष मोहादिक जितने भी संभव है आत्मविकार ।
व सब ममस्वरूप नहि, मैं हूं ज्ञानानंदमयी अविकार ।

(१६७/२) परिप्लावित–डूबा हुआ । (१६८) समग्रत.–पूर्ण रीति से । मम–मेरे ।
(१६९) प्रतिभास–ज्ञान ।

(२००/१)

भेद विज्ञान का माहात्म्य

एवं सम्यक् दृष्टि स्वात्म को ज्ञायक भाव स्वभावीजान ।
सर्व कर्म एवं तत्फल में नहि करता रागादिक म्लान ।
उसमे विद्यमान रहता है ज्ञान विराग—भाव अमलीन ।
जिससे निश्चय मुक्ति पथिक बन सतत कर्म मल करता क्षीण ।

(२००/२)

राग द्वेष में सना हुआ है अंतरंग जिसका विभ्रांत ।
फिर भी घोषित करता वंचक— मैं हूं सम्यक्दृष्टि, नितांत ।
मुझे तनिक नहि कर्म बंध—यों मान गर्व से बना स्वछंद ।
वह पापी सम्यक्त्व शून्य जन काटेगा कैसे भवफंद ?

(२०१)

अणुमात्र भी राग करनेवाला सम्यक्दृष्टि नही है

अणु जितना भी विद्यमान है यदि घट में रागादि विभाव ।
आत्म ज्ञान परिशून्य व्यक्ति वह सिद्ध इसी से स्वतःस्वभाव ।
उसने नहीं आत्म पहिचाना पर में कर सुख भ्रांति नितांत ।
होकर भी सिद्धांत—सिंधु का पारग—रहा भ्रांत का भ्रांत ।

(२००/२) विभ्रांत—विशेष मोही (२०१) सिद्धांत सिंधु पारग—सम्पूर्ण शास्त्रो का जानकार ।

(२०२/१)

उक्त कथन का समर्थन

जिसने नहीं आत्म को जाना वह अनात्म क्या समझे दीन ?
स्व-पर भेद विज्ञान बिना वह कैसा सम्यक्दृष्टि प्रवीण ?
जीवाजीव तत्व बिन समझे रागादिक नहि होते शांत ।
राग भाव बिन छुटे व्यक्ति भी सम्यक्दृष्टि नहीं निर्भ्रांत ।

(२०२।२)

शका-समाधान

रागी सम्यक्दृष्टि न होता भगवन् ! यह दूषित सिद्धांत ।
आगम में सर्वत्र कहा है, जब सराग सम्यक्त्व नितान्त ।
सुनो, भव्य ! है कथन यहाँ पर वीतराग सम्यक्त्व प्रधान ।
वीतरागता प्राप्ति लक्ष्य है, इतर पक्ष सब गौण, निदान ।

(२०२/३)

सबोधन

यह प्राणी संसार दशा में राग द्वेष रत हुवा प्रमत्त ।
पर पद-निजपद मान बन रहा सतत अपद में ही संतप्त ।
भव्यबंधु ! अब तो सचेत हो, अपना पावन पद पहिचान ।
तू निश्चित चैतन्य धातु है, राग द्वेष हैं मैल समान ।

(२०२/१) निर्भ्रान्त—भ्रम रहित ।   (२०२/२) पद—स्थान, स्वरूप ।

(२०३)

अन्य द्रव्य भावाश्रित होते निज मे जो चैतन्य विकार–
वे सब नहि तव पद हो सकते, तू शुद्धात्म तत्व अविकार ।
तज सब पर पद, स्वपद ग्रहण कर ज्ञानविराग मयी निर्भ्रान्त ।
स्वाभाविक जो शाश्वत पावन एक शुद्ध चिद्रूप नितांत ।

(२०४/१)

ज्ञान के भेद व्यवहार से है, निश्चय से नही

मति, श्रुत, अवधि तथा मन-पर्यय केवल गत जो भेद अनेक ।
नय व्यवहार प्रमाण सही है, निश्चय ज्ञान चेतना एक ।
हीनाधिक होता रहता ज्यों रवि प्रकाश घन पटलाधीन ।
किंतु वस्तुतः रवि प्रकाश है एक, अखंड, स्वस्थ, स्वाधीन ।

(२०४/२)

ज्ञानाश्रय लेने मे अनेक लाभ

तथा ज्ञान भी आत्माश्रित है एक अखंड नित्य सद्रूप ।
जिसका आश्रय ले योगीजन पाते परमानंद अनूप ।
यत् प्रसाद हों नष्ट भ्रांतियाँ, कर्म शक्तियाँ होती क्षीण ।
एवं रागादिक परणातियाँ जीवन में हो जाँय विलीन ।

---

(२०३) चिरस्थायी–अविनाशी । समुपलब्ध–प्राप्त, ज्ञात ।

(२०४/३)

एक भ्रांति और उसका निराकरण ।

कुछ जन कहते - 'जीव सर्वथा ही विशुद्ध है सूर्य समान ।
केवलज्ञानमयी होकर भी बाह्य् दृष्टि ही दिखता म्लान ।,
यह भ्रम है प्रिय ! यतः विकृतिरत बद्ध जीव नहिं शुद्ध प्रबुद्ध ।
अज्ञानी असंयमी पर्यय--दृष्टि कर्म संश्लिष्ट अशुद्ध ।

(२०४/४)

जीव किसी नय से शुद्ध और किसी नय से अशुद्ध स्याद्वाद द्वारा सिद्ध होता है ।

शुद्ध नयाश्रित जीव शुद्ध है इतर नयाश्रित वही अशुद्ध ।
अनेकांत दर्शन सुसिद्ध है स्याद्वाद नय कर अविरुद्ध ।
द्रव्य दृष्टि से आत्म-आत्म है अन्य द्रव्यभावादि विहीन ।
अतः शुद्ध है, पर अशुद्ध वह राग द्वेष रत रहै मलीन ।

(२०५)

भव्यात्म-सबोधन

भव्य ! चाहता यदि कर्मों से मुक्ति और पावन पद प्राप्ति ।
तदि ज्ञायक भावाश्रयले तू, जिससे हो कृत बंध समाप्ति ।
कायक्लेश आदिक अनेक विध तपश्चरण कर भी अज्ञान ।
वीतराग विज्ञान विना नहि पावें पद निर्वाण महान ।

(२०४/३) संश्लिष्ट—चिपक कर एकमेक मिले हुए दूध पानी के समान हो जाने वाला ।

(२०६/१)

अतः भव्य ! तू ज्ञान भाव में रत हो, तज मिथ्यात्व निदान ।
रागद्वेष परणति से बचकर रुचि से ज्ञानामृत कर पान ।
आस्वादन कर इस का ही जो हो जाये संतुष्ट प्रवीण ।
वही अतीन्द्रिय सुख सागर में केलि करे शाश्वत स्वाधीन ।

(२०६/२)

अतुल ज्ञान चिंतामणि राजित, वर अचिंत्य सामर्थ्य निधान ।
तू सर्वार्थ - सिद्धि संभूषित स्वयं देव-चिद्रूप महान ।
स्व-पद विरच, जो अजर अमर है, निर्विकार शाश्वत सुखखान
अन्य परिग्रह की चिंता कर क्यों व्याकुल है बन अनजान ?

(२०७)

आत्मभिन्न जड़-चेतन जितने विद्यमान है भाव अनंत ।
ज्ञानी कौन कहेगा उनको ये सब मेरे ही है, संत !
यतः स्व जो है वही रहेगा अतः स्व को तू कर पहिचान !
स्व में स्व को संप्राप्त व्यक्ति ही पाता-पद परमात्म महान ।

(२०६/१) केलि—क्रीड़ा । शाश्वत—स्थायी ।

(२०८)

ज्ञानी के उच्च विचार।

मैं पर बनजाऊं तो, निश्चित ही आत्म तत्व का होगा नाश ।
पर बन जाने पर न स्वयं में रह सकता चैतन्य प्रकाश ।
ज्ञानपुंज मैं देव स्वयं हूँ सर्व परिग्रह मुझ से अन्य ।
ज्ञायक भाव स्वभावी हूँ मैं अन्य भिन्न सब पुद्गल जन्य ।

(२०९)

ज्ञानी का परिग्रह में परत्वकी भावना

छिद जाये, भिद जाये अथवा विलय प्रलय को हो संप्राप्त ।
किसी दशा में भी न परिग्रह स्वत्व कभी कर सकता प्राप्त ।
देह गेह धन जन सब पर है, पर ही रहते सर्व प्रकार ।
यों ज्ञानी निश्चय कर रहता स्वस्थ, परिग्रह गिन कर भार ।

(२१०)

ज्ञानी की परिणति वह ज्ञानी पुण्य क्यों नही चाहता

इच्छा को ही कहा परिग्रह, जो निरेच्छ वह परिग्रहहीन ।
ज्ञानी रह निरेच्छ नहिं करता धर्मेच्छा भी रंच प्रवीण ।
आत्म ज्ञान सम्पन्न साधु के ऐहिक सुख समृद्धि की हीन–
चाह न रहती, अतः पुण्य की वांछा करता नहीं मलीन ।

(२११)

जबकि परिग्रह इच्छा ही है, चाहे वह हो किसी प्रकार ।
यूं न पाप की बांछा करता संज्ञानी जो विरत-विकार ।
क्रोध मान माया लोभादिक राग द्वेष मिथ्यात्व निदान ।
सब संकल्प विकल्प व्याधि तज निज,में रम रहता, मतिमान !

(२१२—२१३)

असन पान की चाह अंततः इच्छा ही है एक प्रकार ।
अतः व ज्ञानी असन पान की इच्छा कर बनता सविकार ।
यद्यपि असन पान करता वह, किंतु निरेच्छ रहे तत्काल ।
अनासक्त रहता ज्ञायक बन आत्म साधना लीन त्रिकाल ।

(२१४)

इस प्रकार ज्ञानी के होता सर्व परिग्रह का परित्याग ।
इच्छाओं का दास न बनकर, धारण करता पूर्ण विराग ।
बाह्य विषयचिंता विमुक्त हो पावन परमानंद स्वरूप–
स्वानुभूति रस पान मगन बन ध्याता वह चिद्रूप अनूप ।

(२१५/१)

इन्द्रिय भोग सहज ही में जो ज्ञानी को होते हैं प्राप्त—
नश्वर जान न रमता उनमें वह विराग वैभव संप्राप्त ।
एवं आगामी विषयों की वांछा कर होता नहिं म्लान ।
भूतकाल में भुक्त भोग भी याद नहीं करता मतिमान ।

(२१५/२)

अज्ञानी जीव की दशा

जीव मोह वश रह अनादि से सतत स्वानुभव शून्य नितांत ।
परमें सुख की भ्रांत कल्पना करता चला आ रहा भ्रांत ।
दुख सहते वीते अनन्त युगमृगतृष्णा पर हुई न शांत ।
फिर भी विषय वासना विषमें सुख को खोज रहा दिग्भ्रांत ।

(२१६/१)

ज्ञानी पर्यायों को जानता हुआ भी द्रव्य दृष्टि रखता है

जो जाने वह वेदक, जाना जाता वेद्य वही, मतिमान !
वेदक वेद्य भाव का प्रतिक्षण होता रहता नाश, निदान ।
जो वांछा करता वह प्रिय की प्राप्ति काल तक रहे न दीन ।
जो प्रिय प्राप्त हुवा है उसकी उत्तर क्षण पर्याय विलीन ।

(२१६/१) वेदक—अनुभव करने वाला । वेद्य—जिसका अनुभव किया जावे । उत्तरक्षण—उस क्षण के अनन्तर (दूसरे क्षण में) त्वरित—शीघ्र ।

(२१६/२)

प्रति पल नष्ट हो रहे वेदक, वेद्य–भाव पर्याय विकार ।
नश्वर शीलों में ज्ञानीजन नहीं उलझते बन सविकार ।
पर्यायाश्रित मतिभ्रम होता, उसे क्षीण कर त्वरित प्रवीण ।
ज्ञानी शुद्ध स्वभाव भावका अनुभव कर रहता स्वाधीन ।

(२१७)

सुख दुख कर्म फलों मे ज्ञानी राग द्वेष नही करता

इंद्रिय भोगों के निमित्त से देहाश्रित सुख दुख हों म्लान ।
रागद्वेष जीवाश्रित होते, बंध हेतु द्वय अध्यवसान ।
नहि संसार देह भागों में ये ज्ञानी के हों उत्पन्न ।
वह रहता ज्ञायक भावाश्रित, वरविराग वैभव सम्पन्न ।

(२१८)

ज्ञानी को नवीन कर्मों का बंधन होने का कारण

यतः जानता वह चेतन को पुद्गलादि द्रव्यों से भिन्न ।
फलतः ज्ञानी पर द्रव्यों में राग द्वेषकर हो नहि खिन्न ।
कर्ममध्य रहकर भी यों वह कर्म रजों में हो नहि लिप्त ।
यथा पंक में पड़ा स्वर्ण शुचि–रहता उसमें सदा अलिप्त ।

---

(२१७) अध्यवसान–विकार । (२१८) पंक–कीचड़ ।

(२१९)

अज्ञानी के बंध होने का कारण

उद्यानों में कुसुम निरख ज्यों बाल मचलता कर अनुराग ।
मोह विवश अज्ञानी भी त्यों पर द्रव्यों में करता राग ।
कर्म बद्ध वह पहिले ही है, फिर करता, दुर्भाव नितांत ।
फलतः कर्मबद्ध हो रहता यथा लोह कर्दम–आक्रांत ।

(२२०–२२१)

ज्ञानी का ज्ञान अन्य के द्वारा अज्ञान रूप नही परिणमता

शंख सचित्ताचित्त द्रव्य का भक्षक है यद्यपि अविराम ।
किन्तु स्वयं का शुक्ल भाव तज वह पर कृत होता नहि श्याम ।
त्यों ज्ञानी भी विरत भाव से विविध वस्तु का कर उपभोग ।
नहिं अज्ञान रूप परिणमता स्वात्माश्रित जिसका उपयोग ।

(२२२––२२३।१)

प्राणी प्रज्ञापराध स्वयं ही वश अज्ञान रूप परिणमन करता है ।

यथा शंख शुक्लत्व त्याग जब स्वयं परिणमें कृष्ण स्वरूप ।
उसको यह परणति उसमें ही हो रहती है सहज विरूप ।
त्यों प्राणी प्रज्ञापराध वश करता जब रागादि विकार ।
तब अज्ञान रूप परिणम कर अज्ञ स्वयं बनता सविकार ।

(२१९) लोह लोहा । कर्दम–कीचड़ । (२२२) प्रज्ञापराध–मतिभ्रम ।

(२२३/२)

वस्तु के परिणन मे निमित्त और उपादान का स्पष्टीकरण

अभिप्राय यह है कि वस्तु में सर्व परिणमन विविध प्रकार
होता निश्चित निज स्वभाव से अन्य न कर सकता सविकार ।
बाह्य वस्तु होती निमित्त वह, जो परणति में हो अनुकूल ।
परिणमता जो स्वयं कार्य बन, उपादान करण वह मूल ।

(२२३/३)

उपादान एव निमित्त का दृष्टात

कार्योत्पादक उपादान-निज, पर-निमित्त-सहयोगी जान ।
कार्य काल म हो निमित्त वा उपादान का हो परिज्ञान ।
वैद्य प्रक्रिया कर शीशक जब स्वर्ण रूप परिणमें, नितांत–
उपादान शीशक रहता तब वैद्यादिक निमित्त संभ्रांत ।

(२२३/४)

यों बाह्याभ्यंतर निमित्त का कार्य काल में हो सद्भाव ।
कभी कहीं इच्छानुकूल भी मिलजाते वे स्वतः स्वभाव ।
जब इच्छानुकूल मिलते तब अहंकार की होती सृष्टि ।
अहंकार ममकार न करता किन्तु कभी जो सम्यक्दृष्टि ।

(२२३/३) शीशक–शीशा (एक धातु) । प्रक्रिया–विशेष रासायनिक विधियां (शीशे को स्वर्ण बनाने की क्रियायें) । (२२३/४) बाह्याभ्यंतर–अंतरंग (भीतरी) और बहिरंग (बाहिरी) सृष्टि–रचना, उत्पत्ति ।

(२२३/५)

उपादान एवं निमित्त हैं स्वपराश्रित कारण व्यवहार ।
कार्य बिना संभव नहि होता उभय कारणों का निर्धार ।
जननी जनक कौन कहलावे हुई न होवे यदि संतान ।
एवं नियमित परस्पराश्रित है सब कारण कार्य विधान ।

(२२३/६)

जिनका आलंबन लेने से होती कार्य सिद्धि सम्पन्न ।
उन में भी निमित्त कारणता निरपवाद होती निष्पन्न ।
जिनवाणी सुन जब होता है भव्य जीवको सम्यक्ज्ञान–
तब वाणी निमित्त कहलाती, उपादान वह व्यक्ति सुजान ।

(२२४––२२५)

अज्ञानी सुख हेतु कर्म कर्त्ता और उसका फल भोगता है–
इसका दृष्टाँत द्वारा समर्थन

धन का इच्छुक व्यक्ति नृपति की जब सेवा करता दिनरात ।
तब प्रसन्न होकर नरपति भी करता उसकी पूरी आश ।
त्यों इंद्रिय सुख भोग प्राप्ति हित जीव कर्म करते अविराम ।
बँध कर कर्म उन्हें प्रतिफल दें, तत्पश्चात् करें विश्राम ।

(२२३/५) स्व–जो स्वयं कार्य रूप परिणमन करे वह (उपादान)। पर–जो कार्य रूप परिणमन करते हुए को सहयोगी बन जाय (निमित्त)।

(२२६--२२७)

ज्ञानी विषय सुख हेतु कर्म न कर उसके फल का
भोक्ता भी नही बनता

वही व्यक्ति जब वृत्ति हेतु नहि सेवा करता, बन स्वाधीन ।
तब नृप भी सुख सामग्री से वंचित करता उसे प्रवीण ।
त्यों ही सम्यक्दृष्टि न करता जब विषयों हित कार्य सकाम ।
तब कुछ भी फल दान न देकर कर्म प्रकृतियाँ लें विश्राम ।

(२२८)

सम्यक्दृष्टि की नि शंकता

सम्यक्दृष्टि सदा रहता है जीवन में निःशंक नितांत ।
अतुल आत्म वैभव बल पाकर निर्भय रहता बन निर्भ्रांत ।
इह-परलोक, अगुप्ति, अरक्षा, मरण, वेदना या आतंक ।
अकस्मात् इन सप्तभयों से स्वतः मुक्त हो, बनें निशंक ।

(२२९)

उसकी निःशकता निर्जरा काकारण

आगम वर्णित दुःख हेतु हैं समुत्पन्न चैतन्य विकार ।
तथा कथित मिथ्यात्व अविरमण योग कषाय बंध के द्वार ।
इन्हें बंद कर विरत भाव रख करता चिदानंद रस पान ।
संवर पूर्वक बद्ध कर्म का यूं करता क्रमशः अवसान ।

(२३०/१)

सम्यक्दृष्टि की निष्कांक्षिता

मुक्ति साधना हेतु निरंतर धर्माराधन कर अभिराम ।
अनासक्त बन कर्मफलों की चाह न कर रहता निष्काम ।
पर में सुख भ्रम से होती है विषयों की बाँछा उत्पन्न ।
अतः न पर विषयों का बांछक होता वह सुदृष्टि सम्पन्न ।

(२३०/२)

अनासक्त से ही होते हैं बन्द कर्म बन्धन के द्वार ।
कर्म निर्जरा भी उसके ही होसकती जो विरत विकार ।
विषयों में सुख मान हो रहा उनमें जो आसक्त निदान ।
सम्यक्दृष्टि व्यक्ति वह कैसा ग्रंथ पठन कर भी अनजान ?

(२३१/१)

उच्च-नीच, निर्धन-समृद्ध या रुग्ण-स्वस्थ पर्याय विकार–
समुत्पन्न होते हैं जितने भी जीवन में विविध प्रकार ।
तथा शुभाशुभ स्पर्श गंध रस रूप पौद्गलिक परणति जान ।
इष्टानिष्ट कल्पनायें कर वह सुदृष्टि नहि बनता म्लान ।

(२३१/१) रुग्ण–रोगी ।

(२३१/२)

जिन्हें वस्तु धर्मों में होती इष्टानिष्ट कल्पना हीन ।
उन्हें जुगुप्सा होती, पर की हीन दशाएं निरख मलीन ।
किन्तु तत्व ज्ञानी न जुगुप्सा करता किंचित् भी भ्रमहीन ।
सम भावी बनकर रहता है प्रायः आत्म साधना लीन ।

(२३२)

अमूढादृष्टित्व

सम्यक्दर्शन के प्रसाद से पाता वह जब दृष्टि नवीन ।
लोक तथा पाखंडि मूढ़ता उसकी होती त्वरित विलीन ।
नूतन चमत्कार लख जग में मोहित होते मूढ़ महान ।
किंतु सुदृष्टि कुदेवादिक में होता नहि आकृष्ट सुजान ।

(२३३)

उपगूहनत्व

प्रतिपल अपने दोष ढूंढ कर उन्हें नष्ट करता है कौन ?
एवं पर कृत दोष निरखकर धारण कर रहता है मौन ?
वह सुदृष्टि ही है, जो रहता सिद्ध भक्ति रत सतत महान ।
मिथ्यात्वादि नष्ट कर करता आत्मिक गुण विकसित अम्लान ।

(२३१/२) जुगुप्सा—ग्लानि ।

(२३४)

सम्यक्दृष्टि का स्थितिकरणत्व

विषय वासनाओं का उरमें आता जब अदम्य तूफान ।
मानव मन उन्मार्गी बन तब हो जाता है पतित निदान ।
किंतु सुदृष्टि न विचलित होता किसी प्रलोभन वश स्वाधीन ।
सुस्थिति करणस्वपर का कर वह कर्म काटता सतत मलीन ।

(२३५)

सम्यक्दृष्टि मे वात्सल्य

मुक्ति मार्ग में साधु त्रय पर रखकर वत्सल भाव नितांत ।
दर्शन ज्ञान चरण साधन रत वह रहता निश्छल निर्भ्रान्त ।
आत्मधर्म में रुचि-सुदृष्टि का है निश्चय वात्सल्य महान ।
धर्म-धर्मिमें वत्स वत् सहज प्रेम–भाव व्यवहार प्रमाण ।

(२३६)

सम्यक्दृष्टि की प्रभावना

आत्म अनन्त शक्ति अनुभव कर विद्यारथ में हो आसीन ।
ध्यान खड्ग से आत्म विकृति रिपुदल करता जो क्षीण प्रवीण ।
वही वीर बन स्वात्म प्रभावक नव बंधन का कर अवसान ।
बद्ध कर्म परिपूर्ण नष्ट कर पाता पद निर्वाण महान ।

इति निर्जराधिकार :

बंध - अधिकार

(२३७/१)

बध का स्वरूप

बाह्याभ्यंतर कारण पाकर करता जीव मलिन परिणाम।
तन्निमित्त पुद्गल अणुओं में भी, विकार होता अविराम।
जल-पयवत् जड़ चेतन का तब हो संश्लेष रूप संबंध।
आलिंगित हों उभय परस्पर, यही तत्व कहलाता बंध।

(२३७–२३८)

बंध का कारण और दृष्टाँत

धूलि बहुल धूसर प्रदेश में मुद्गरादि ले कर में शस्त्र—
तैलादिक मर्दन कर करता जब व्यायाम मल्ल निर्वस्त्र—
वांस, ताल, कदली दल, पर भी कर वह बारंबार प्रहार—
सचित, अचित द्रव्यों का करता छेदन भेदन विविध प्रकार।

(२३९)

घात और प्रतिघातमयी है जिसका सब व्यापार अशांत—
इस व्यायामशील जन को—जो चेष्टमान है सतत नितान्त—
धूलि चिपकती क्यों कर तन में? प्रश्न यहाँ यह है गंभीर—
शस्त्र, प्रदेश, शरीर-क्रिया या अन्य हेतु क्या सोचें धीर !

(२४०–२४१)

बध हेतु का स्पष्टीकरण

तन की तैल सचिक्कणता ही उसका दिखता कारण एक।
धूप चिपकती नहिं शरीर में चेष्टाएँ कर अन्य अनेक।
त्यों मिथ्यात्वग्रस्त जन बनकर नित रागादि विकाराक्रांत –
कर्म रजों से बंध रहता है–मन वच काय क्रिया कर भ्रांत।

(२४२–२४३)

बध हेतु के अभाव मे बंध का अभाव

यही मल्ल तन प्रक्षालन कर जब भी न कर तैल अभ्यंग—
धूलि बहुल व्यायाम सदन में मुद्गरादि लेकर भी संग—
तालपत्र कदली वंशों का छेदन भेदन कर अविराम—
सचित् अचित् द्रव्यों का करता-घात, न ले किंचित् विश्राम–

(२४४–२४५)

उक्त सकल चेष्टाएं नाना-अस्त्रों से भी कर निष्पन्न।
क्या कारण जो धूलि कणों से नहिं तन होता है आपन्न ?
रजकण बंधन का समग्रतः निश्चय से कारण है एक—
तैल सचिक्कणता शरीर की, वपु चेष्टाएँ नहीं अनेक।

---

(२४०) वपु–शरीर। (२४२) अभ्यंग–मालिश।

(२४६)

सम्यक्दृष्टि को बंध क्यों नहीं होता

त्यों सुदृष्टि के मन वच तन से संबंधित सब क्रिया कलाप—
वीतराग परणति के कारण नहिं बनते बंधन-अभिशाप।
रागादिक दुर्भाव बंध के कारण है, रह उनसे दूर——
वह स्वच्छन्द करता प्रवृत्ति नहिं, जिससे बंध न होता क्रूर।

(२४७)

सम्यक् और मिथ्यादृष्टि की श्रद्धा मे अतर

'मैं परको मारूँ या पर से मारा जाऊँ' यों अनजान——
भ्रांति विवश जो नहीं समझता तत्व रहस्य निपट नादान।
वह संमूढ, मूढ, मिथ्यात्वी या बहिरातम है विभ्रांत।
इससे भिन्न सुदृष्टि वस्तुतः रखता सत् श्रद्धान नितांत।

(२४८–२४९)

आयु कर्म की परिसमाप्ति ही कहलाता है मरण, निदान।
तू न आयु क्षय कर भी कहता 'मैं पर को मारा' अनजान!
यतः मरण श्रीमज्जिनेन्द्र ने कहा आयुका ही अवसान——
आयु न क्षय कर सकता कोई रख कर भी सामर्थ्य महान।

---

(२४७) संमूढ़—मोही। सत्—सम्यक्, ठीक। (२४८) अवसान—अंत।

(२५०–२५१)

मैं पर को जीवन दूँ या पर मुझको देवे जीवन-दान ।
यों भ्रम बुद्धि जिसे है, वह ही मिथ्या मति है मूढ़ महान ।
उदय आयु का यतः जहाँ तक तावत् रहता जीवन, मित्र !
आयुदान तू नहि करता, तब जीवदान की बात विचित्र ।

(२५२–२५३)

उपरोक्त कथन का पुन समर्थन

आयु उदय में ही जीते है जब कि जीव जिन वचन प्रमाण ।
आयुदान कर सके न कोई, अतः न पर कृत जीवन दान ।
एवं निज को पर का, पर को निज का सुख-दुखदाता जान–
जो होता संमूढ भ्रांति वश–वह ज्ञानी कैसा, अज्ञान ?

(२५३–२५४)

ज्ञानी की श्रद्धा यथार्थ ही यूं रहती निर्भ्रान्त नितांत ।
सुख दुख-पूर्व कर्म कृत फल हैं, नहिं पर दत्त उभय सम्भ्रांत ।
जीवन-मरण, हानि लाभादिक जब स्वकर्म फल सिद्ध, निदान–
फिर क्यों कर्म फलों का दाता भ्रमवश बन, करता अभिमान ?

(२५०/२५१) तावत्–तब तक । (२५३) निर्भ्रांत–भ्रम रहित ।

(२५५–२५६)

कर्मोदय में ही होते है सुख दुख समुत्पन्न, मतिमान !
उन्हें कौन दे सकता ? यह तो भ्रम है–कोई करे प्रदान ।
हमें तुम्हें सुख दुख का दाता–अन्य नहीं कोई, सम्भ्रान्त ।
स्वकृत कर्म फल ही पाते है संसारी जन सकल नितांत ।

(२५६–२५७)

सुख-दुख में हम-तुम निमित्त है, वे यद्यपि हों कर्माधीन ।
उनमें हर्ष विषाद न कर वर-ज्ञानी रहता बंधन हीन ।
मरे, जिये या सुख दुख पाये जबकि जीव निज कर्माधीन–
'पर ने मारा या कि दुखाया' है यह मिथ्या भ्रांति मलीन ।

(२५८–२५९)

पर न मरे या दुखी न होवे–यह भी पूर्व कर्म फल जान ।
'मैं मारा या दुखी किया नहिं' तजो मानसिक भ्रांति, निदान ।
सुखी दुखी मैं करता पर को एवं अहंकार वश दीन––
जीव शुभाशुभ कर्मों का ही बंधन करता नित्य नवीन ।

(२५५) समुत्पन्न–पैदा ।

(२६०—२६१)

'पर को सुखी दुखी मैं करता' यूं होता जो अध्यवसान ।
पुण्य-पाप कर्मों का बन्धक वह बन रहता सूत्र-प्रमाण ।
मैं जीवों को मारूं अथवा उनको दूं जीवन का दान ।
यह भी पाप-पुण्य बंधक है—समुद्भूत जीवाध्यवसान ।

(२६२—२६३)

हिंसादि पराश्रित न होकर अपने भावों पर निर्भर हैं

जीव मरें या जियें, उन्हें मारो-मतमारो; किंतु, प्रवीण !
अध्यवसान भाव तब होते निश्चय बंधन हेतु मलीन ।
हिंसा सम मिथ्या भाषण या करना ग्रहण अदत्तादान ।
मैथुन और परिग्रह-भावों से अनुरंजित जीव—निदान—

(२६४)

सविकारी बन अशुभ रूप में परिणत हो बन जाता म्लान ।
तन्निमित्त पापास्रव पूर्वक बंधन में होता अवसान ।
एवं सत्य, अचौर्य ब्रह्म, या अपरिग्रह में शुभ परिणाम—
जो होते वे पुण्यबंध के हेतु कहे श्रीजिन-निष्काम ।

---

(२६०) अध्यवसान—विकारी भाव । समुद्भूत—उत्पन्न हुआ ।

(२६५/१)

वाह्य वस्तुओं के आलबन से अध्यवसान होते हैं और अध्यवसानों से बध होता है

जीवों मे जितने भी होते अ्रध्यवसान भाव उत्पन्न ।
वे सब बाह्य वस्तुओं का ही आलंबन ले हों निष्पन्न ।
किंतु तनिक भी बाह्य वस्तु कृत बंध नहीं है क्वचित् नवीन ।
वह होता प्रज्ञापराध वश कलुषित अ्रध्यवसानाधीन ।

(२६५/२)

एक प्रश्न

कर्म बंध यदि भावों से ही होता है सम्पन्न नितांत ।
बाह्य वस्तु का त्याग तदा क्यों करते हैं मुनि गण संभ्रांत ?
राज्य-पाट, धन वैभव परिजन और स्वजन तज कर वनवास ।
तीर्थंकर पद प्राप्त व्यक्ति भी बाह्‌य संग तज बनै उदास ।

(२६५/३)

प्रश्न का समाधान

अ्रध्यवसानों का कारण है बाह्य वस्तु का संग मलीन ।
अ्रतः त्याज्य है; किंतु बंध हो स्वाध्यवसानाश्रित ही हीन ।
यद्यपि अ्रध्यवसान बिना नहि बाह्य वस्तु कृत बंध नवीन ।
फिर भी अ्रध्यवसान त्याग हित बाह्य संग है त्याज्य मलीन ।

---

(२६५) प्रज्ञापराध—मतिभ्रम जन्य दोष । (२६५/३) स्वाध्यवसानाश्रित—अपने विकारी भावों के आश्रित । त्याज्य—छोड़ने योग्य ।

(२६६)

अध्यवसान सम्पूर्ण अनर्थों की जड़ है

पर को सुखी-दुखी मैं करता, बाँधूं या कि करूं उन्मुक्त ।
यही वासना तव निरर्थिका-मिथ्या महाभ्रांति संयुक्त ।
इस वश चेतन हो रहता है मिथ्या अहंकार में लीन ।
कर्म बंध कर भव संतति में भटक रहा बन भ्रांत मलीन ?

(२६७)

अध्यवसान स्वार्थ क्रियाकारी नही है

अध्यवसानों के निमित्त से कर्म बंध करते जन भ्रांत ।
किंतु मुक्ति पथ का आश्रय ले बंधविहीन बने निर्भ्रान्त :
हे प्रिय ! यदि यह नियम सत्य है जिन वर्णित शंकातिक्रांत ।
फिर तू ने क्या किया अन्य प्रति बन कर व्यर्थ विकाराक्रांत ।

(२६८)

अध्यवसानो की भर्त्सना

कहें कहाँ तक अध्यवसानों की दुख गाथा तुम्हें, नितांत ।
इन वश जीव जहां भव धरता होता वहीं सदा दिग्भ्रांत ।
देव नरक नर तिर्यग्गति में हो संप्राप्त शुभाशुभ देह ।
आत्म उसे ही मान भ्रांति वश, पुण्य पाप में करतास्नेह ?

(२६६) उन्मुक्त—बंधन मुक्त, । निरर्थिका—व्यर्थ ।

(२६९)

लोकालोक, जीव पुद्गल वा धर्माधर्म काल सम्भ्रांत ।
अध्यवसानों द्वार मानता—मेरे हैं सब द्रव्य नितांत ।
नारक भव धर बनें नारकी—श्वान योनि धर माने श्वान ।
आत्म स्वरूप भूल भ्रम करता, फिरै भटकता बना अजान ।

(२७०)

अध्यवसानों के अभाव में बंध का अभाव

जिन मुनिवर के अस्त होगई अध्यवसानों की संतान ।
उन्हें तनिक भी कर्म बंध का अवसर नहि आता है म्लान ।
हिंसन, कर्मोदय, ज्ञेयार्थज, होते जो संकल्प विकल्प ।
इन्हें नहीं करते जो यतिवर उन्हें कर्म रज लगे न स्वल्प ।

(२७१)

अध्यवसान का स्वरूप

अध्यवसान वही जो होते वैभाविक परिणाम मलीन ।
नामांतर इनके निम्नांकित आगमोक्त हैं अष्ट प्रवीण !
बुद्धि, चित्त, व्यवसाय, भाव, मति, परिणामाध्यवसान ।
एक अर्थ वाचक हैं सब ही उपर्युक्त परणतियां म्लान ।

---

(२६९) श्वान—कुत्ता । (२७०) हिंसन—हिंसा के कार्य । ज्ञेयार्थज—ज्ञान के विषय भूत पदार्थों से उत्पन्न होने वाला ।

(२७१/१)

अध्यवसान व्यवहार नय का विषय होने से निश्चय नय
द्वारा वह प्रतिषिद्ध है

पराश्रयी के सर्व शुभाशुभ होते ये परिणाम मलीन ।
शुद्ध स्वात्म आश्रय पा मुनिजन निज स्वभाव में रहते लीन ।
यों निश्चय से हो जाता सब पर-आश्रित व्यवहार निषिद्ध ।
शुद्ध स्वात्म संश्रयी साधुजन पाते पद निर्वाण प्रसिद्ध ।

(२७२/२)

पर्यायों का सतत परिणमन ही व्यवहार कहा अमलीन ।
निश्चय है ध्रुव अंश वस्तु का, अतः तदाश्रयणीय, प्रवीण !
व्यवहारी संकल्प विकल्पों में ही उलझा रहता दीन ।
ध्रुव स्वभाव का आश्रय ले मुनि कर्म शक्तियां करते क्षीण ।

(२७३)

सम्यक्त्व शून्य अभव्य शुभ क्रियाओ का पालन कर भी मुक्त नही होता

श्रीजिन कथित शील, व्रत, तप या समिति गुप्ति व्यवहार चरित्र
नित पालन कर भी अभव्यजन मुक्ति नहीं पाता है मित्र !
धर्म मूल स्वत्वानुभूति से जिनका जीवन शून्य नितांत ।
वे अज्ञानी वा असंयमी भ्रांत पथिक ही हैं सम्भ्रांत !

(२७२/१) प्रतिषिद्ध—जिसका निषेध किया जावे ।

(२७४)

अभव्य के मुक्त न होने का कारण

उस अभव्यजन का क्या कहना, जो न मुक्ति माने मति भ्रांत ।
आचारांग आदि श्रुत पढ़कर भी रहता दिग्भ्रांत नितांत ।
शास्त्र पठन से लाभ क्या हुआ, रुची न जिसको आत्मविशुद्धि ?
बाह्य क्रिया साधन में ही जो उलझा रहता है भ्रमबुद्धि ।

(२७५)

अभव्य की धार्मिक श्रद्धा का उद्देश्य

यद्यपि करता है अभव्य भी धर्म कर्म पर दृढ़ श्रद्धान ।
वह लाता प्रतीति भी उरमें, रुचता उसे धर्म परिज्ञान ।
अनुष्ठान से धर्म स्पर्श कर देव-वंदना करता दीन ।
किंतु विषय सुख प्राप्ति हेतु ही, नहीं कर्म क्षय हेतु मलीन ।

(२७६)

व्यवहार धर्म का स्वरूप

सम्यग्दर्शन कहा जिन कथित तत्वों का करना श्रद्धान ।
आचारांगादिक सूत्रों का पठन मनन ही सम्यक्ज्ञान ।
षट्कायों की रक्षा करना है सम्यक्चारित्र ललाम ।
यों व्यवहार धर्म वर्णित है श्री जिन वचन द्वार अभिराम ।

---

(२७५) अनुष्ठान-किसी इष्टफल के निमित्त देव की आराधना करना ।
(२७६) ललाम-सुन्दर । अभिराम-सुन्दर ।

(२७७/१)

निश्चय धर्म का स्वरूप

निश्चय धर्म आत्म ही है–सद् दर्शन ज्ञान चरण में लीन ।
प्रत्याख्यान वही है पावन–संवर योग स्वस्थ स्वाधीन ।
आत्म तत्व उपलब्ध जिसे है सार्थक है उसका सब ज्ञान ।
दर्शन भी उसका यथार्थ है सफल सकल चारित्र महान ।

(२७७/२)

निश्चय मे व्यवहार स्वय विलीन हो जाता है

यों निश्चय धर्मस्थ योगि के हो जाता व्यवहार विलीन ।
यत: पराश्रय नहि लेकर वह रहता स्वात्म साधनालीन ।
इस कारण निश्चय नय द्वारा किया गया व्यवहार निषिद्ध ।
निश्चय बिन व्यवहार धर्म का–लोप–स्वछंद वृत्ति प्रतिषिद्ध ।

(२७८—२७९)

आत्मा का रागादि अध्यवसान रूप परिणमन पर निमित्तक है–
इसका दृष्टांत द्वारा समर्थन

शुद्ध स्फटिक मणि सुना आपने, वह न स्वयं होता है रक्त ।
जपा कुसुम की संगति पाकर ही परिणमता बन अनुरक्त ।
त्यों ज्ञानी की शुद्ध चेतना स्वयं न होती विकृत, निदान ।
मोहादिक कर्मोदय द्वारा अनुरंजित हो बनती म्लान ।

---

(२७८) जपाकुसुम–एक प्रकार का फूल, जो लाल होता है। अनुरक्त– लालिमा सहित। अनुरंजित–रागमय।

(२८०)

ज्ञानी बुद्धिपूर्वक रागादि न कर बंधक नहीं बनता

आत्म लीन ज्ञानी नहि करता राग द्वेष मोहादि विकार ।
स्व-पर वस्तु का रूप जान वह स्वस्थ रहे परमार्थ विचार ।
क्रोध मान माया लोभादिक कलुषित भाव न कर मतिमान ।
पावन ज्ञायक भाव मात्र की वह लेता है शरण महान ।

(२८१—२८२)

अज्ञानी के बंध क्यों होता है ?

वस्तु स्वभाव न जान तत्वतः मिथ्यादृष्टि जीव अज्ञान ।
भ्रांति विवश रागादि भाव कर कर्म बंध करता है म्लान ।
इससे सिद्ध हुआ कि कषायों से अनुरंजित जो परिणाम —
राग द्वेष मोहादि विश्रुत है, वही बंध कारक अविराम ।

(२८३)

कर्म बंध अन्य किन कारणों से होता है ?

द्रव्य भाव द्वारा विभक्त है अप्रतिक्रमण अप्रत्याख्यान ।
ये भी बंधक सुप्रसिद्ध हैं उभय विकृत जीवाध्यवसान ।
उभय विकृतियां हो जाती हैं जीवन में समग्र जब क्षीण—
तब ज्ञानी के भी न कर्म का बंधन होता रंच प्रवीण ।

---

(२८१) विश्रुत–प्रसिद्ध । (२८३) विभक्त–विभाजित, भेदरूप । अप्रतिक्रमण–पूर्वकृत पापों का प्रायश्चित न करना । अप्रत्याख्यान–भविष्य में होने वाले पापो का त्याग न करना ।

(२८४)

सारांश

कहने का अभिप्राय यही है–रागादिक परिणाम मलीन—
जीवन में अन्याश्रित होते कर्मोदय निमित्त पा हीन ।
विकृत रूप नहि परिणमता जब जागृत होकर सम्यक्दृष्टि ।
निर्विकार परणति के कारण तब न बंध की होती सृष्टि ।

(२८५/१)

किंतु वही करने लगता जब मोहित हो रागादि विभाव ।
तन्निमित्त कर्मों का भी तब बंधन होता स्वतः स्वभाव ।
प्रतिक्रमण प्रत्याख्यानाश्रित बंधन करता जीव कभी न ।
मोह न कर पर द्रव्य-भाव में, शुद्ध बना रहता स्वाधीन ।

(२८५/२)

द्रव्य भाव में रहता केवल नैमित्तिक–निमित्त संबंध ।
पर न निमित्त कभी नैमित्तिक रूप परिणमन करता अंध ।
रागादिक परणतियां होतीं पा निमित्त कर्मोदय म्लान ।
यों निमित्त की दृष्टि कर्म ही तत्कर्ता, नहिं जीव निदान ।

(२८५/३)

फिर भी जब तक रागादिक के जो निमित्त होते पर द्रव्य--
उनका प्रतिक्रमण नहिं होता या हो प्रत्याख्यान न लभ्य--
तब तक नैमित्तिक विभाव का भी होता नहिं प्रत्याख्यान ।
प्रति क्रमण भी नहिं होता, यों तत्कर्त्ता है चेतन म्लान ।

(२८६/१)

अधः कर्मादि दोषों का ज्ञानी अकर्ता है

अधः कर्म उद्देशिक ये दो आहाराश्रित दोष विशेष ।
पुद्गल के आश्रित वर्णित हैं, ज्ञानी इन्हें न कर्त्ता लेश ।
अन्य वस्तु के गुण दोषों का कर्त्ता नहि होता है अन्य ।
जड़ पुद्गल आश्रित दोषों की आत्म कर्त्तृता है भ्रमजन्य ।

(२८६/२)

अध: कर्म और उद्देशिक आहार का स्वरूप

हीन पाप कर्माजित धन से असन पान जो हो निष्पन्न ।
वही किया जाता आगम में अधः कर्म संज्ञा सम्पन्न ।
पर निमित्त निर्मित समस्त ही असन पान उद्देशिक जान ।
इन पर द्रव्य भाव का कर्त्ता ज्ञानी कैसे है ? मतिमान !

(२८५/३) लभ्य-प्राप्ति करने योग्य, प्राप्त । (२८६/1) अधःकर्म—अन्याय और पाप से उपार्जित धन से निर्मित भोजन । उद्देशिक—जो भोजन किसी व्यक्ति के उद्देश्य से बनाया गया हो ।

(२८७/१)

अधःकर्म–उद्देशिक है आहार मात्र पुद्गल परिणाम ।
दोष तदाश्रित अपने कैसे निश्चय कर हो सकते वाम ?
ज्ञानी मन वच तन कृत कारित मोदन से कर तत्परिहार ।
किंचित् राग द्वेष नहिं करता असन पान में रह अविकार ।

(२८७/२)

अधः कर्म से उत्पादित हो या उद्देशिक हो आहार—
ज्ञानी यह विचारता इनका पुद्गल ही है बस आधार ।
यह मुझ कृत कैसे हो सकता जो कि प्रकट पुद्गल परिणाम ?
यों विज्ञान विभव बल से वह बंध न कर, पाता विश्राम ।

(२८७/३)

ज्ञानी साधु को आहारादि क्रिया में बंध क्यों नहीं होता ?

ज्ञानी साधु निरीहवृत्ति रख करता जो आहार विहार ।
उससे उसे बंध नहिं होता जिनवाणी करती निर्धार ।
आहारादि क्रिया में होता जो प्रमाद किंचित् तत्काल—
उससे उसे बंध भी किंचित् होता है; नहि किंतु विशाल ।

(२८७/३) निरीह वृत्ति–विषयवासना या ऐहिक कामना से रहित वृत्ति ।

(२८७/४)

वह नगण्य होने से उसको गौण कर कहा है निर्बंध ।
अनंतानुबंधी बिन जैसे पूर्व कहा सद्दृष्टि अबन्ध ।
हो जाता अनंत भव कारण का सुदृष्टि जन में अवसान ।
इसी दृष्टि को मुख्य कर कहा है अबन्ध सद्दृष्टि महान ।

(२८७/५)

इस संबध मे भ्रम और उसका निवारण

इससे यह न समझना ज्ञानी करता है उद्दिष्टाहार ।
याकि पाप कर्मार्जित धनकृत भुक्ति ग्रहण करता स्वीकार ।
जान मान करता सदोष यदि वह उद्दिष्टाहार विहार ।
तब तत्क्षण संयम विहीन बन मार्ग भ्रष्ट होता साकार ।

(२८७/६)

अन्य द्रव्य भावाश्रित जितने भी विकार हैं अमित, अशेष ।
आत्म भिन्न कह दरशाई है यहां सुनिश्चय दृष्टि विशेष ।
शुद्ध नयाश्रित ज्ञानी में नित जाग्रत रहता परम, विवेक ।
अतः न बंधक प्रतिपादित है आहारादि क्रिया प्रत्येक ।

इति बंध-अधिकारः

(२८७/५) उद्दिष्टाहार—जो भोजन अपने उद्देश्य से बनाया गया हो।
(२८७/६) अमित—असीम-असंख्यात ।

मोक्षाधिकार

(२८८)

दृष्टान्त द्वारा बंध का स्पष्टीकरण

लोह श्रृंखलाबद्ध पड़ा इक–कारागृह में जन संभ्रांत ।
मृदु-कठोर, दृढ़ -शिथिल-बंध की सर्व स्थिति संज्ञात नितांत ।
यों युग बीते पारतन्त्र्य में पीड़ाओं की सहते मार ।
मुक्ति हेतु फिर भी न यत्न कर वह रहता है बंध चितार ।

(२८९—२९०)

बंध का ज्ञान करने से ही मुक्ति नही मिलती

एवं युग युगांत में भी वह कैसे हो सकता स्वाधीन—
लोह श्रृंखला काट यत्न कर नहि यावत् हो बंधन-हीन ?
त्यों यदि प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभागबंध सब हों परिज्ञात ।
फिर भी कर्मों का दृढ़ बंधन बिना यत्न कटता नहि भ्रात !

(२९१)

बंध की चिंता और ज्ञान-दोनों करने से मुक्ति नहीं मिलती

चिंतन या तद् ज्ञान मात्र से कटती नहीं कर्म जंजीर ।
अतः बंध के ज्ञान मात्र से ही संतुष्ट न होना धीर !
बंध छेद बिन किये न बंदी-पा सकता स्वातन्त्र्य, प्रवीण !
कर्म बंध छेदन बिन त्यों ही जीव न हो सकता स्वाधीन ।

(२९२)

बंधनों का काटना ही बंध मुक्ति का उपाय

यदि वह बंधन बद्ध काट दे पग में पड़ी बेड़ियां हीन ।
तब होकर उन्मुक्त विचरता यत्र, तत्र, सर्वत्र, प्रवीण !
त्यों चेतन पावन समाधि सज कर्मबंध का कर अवसान--
अनुपम अचल अमल अविनाशी पद पाता–निर्वाण महान—

(२९३)

बंधन से मुक्ति कब संभव है ?

बंधन एवं आत्म तत्व को पृथक् पृथक् सम्यक् पहिचान—
बंध दुःख का हेतु जान कर-माना आत्म-शांति सुख खान ।
बंध विरत हो कर दृढ़ता से काटे विकट कर्म जंजीर ।
परमानन्द मयी अविनाशी मुक्ति वही पाता वर वीर ।

(२९४—२९५)

बंधन हेय एवं आत्म स्वभाव उपादेय है।

नियत स्वलक्षण से विभिन्नता प्रज्ञाकृत होती है सिद्ध :
बद्ध कर्म जड़ भाव लिये हैं, ज्ञानमयी चैतन्य प्रसिद्ध ।
बंधन निश्चित पारतन्त्र्य का ही प्रतीक है दुख की खान ।
अतः हेय है, किंतु स्वात्म है उपादेय सुख शांति निधान ।

(२९६)

शुद्धात्म स्वरूप का ग्रहण कैसे हो ?

शुद्ध स्वात्म हम भगवन् ! कैसे ग्रहण करें सम्यक् निर्धार ?
भव्य ! सदा प्रज्ञा द्वारा ही आत्म ग्राह्य होता साकार ।
भिन्नज्ञात ज्यों हुआ बंध से आत्म तत्व अनुपम अभिराम ।
प्रज्ञा से ही ग्रहण करो त्यों तव विशुद्ध चिद्रूप ललाम ।

(२९७)

मैं कौन और कैसा हूं ?

प्रज्ञा से जो ग्रहण किया है सच्चिद्रूप स्वस्थ अम्लान ।
मैं ही हूँ वह तत्व वस्तुतः परंज्योति विज्ञान निधान ।
मम स्वभाव से सर्व भिन्न हैं वैभाविक परिणाम मलीन ।
मैं निज में निजकर निज के ही लिये ग्रहण के योग्य प्रवीण ।

---

(२९४) प्रज्ञाकृत—ज्ञान से संपन्न ।

(२९८)

आत्म संबोधन !

प्रज्ञा से जो ग्रहण किया वह दृष्टा भी मैं हूँ स्वाधीन ।
चित्स्वभाव से सकल भिन्न हैं वैभाविक परिणाम मलीन ।
वे विकार विड्रूप लिये हैं ज्वरवत् दुःखमयी साकार ।
मैं चेतन चिद् ब्रह्म चिरंतन परमानंदमयी अविकार ।

(२९०—३००/१)

पुन आत्म सबोधन !

प्रज्ञा से ग्रहीत मैं ही हूँ, ज्ञाता भी निःशंक ललाम ।
मुझ से भिन्न भाव सब पर हैं, मैं हूँ निर्विकार निष्काम ।
कौन विवेकी जान स्वयं को अन्य द्रव्य-भावों से भिन्न—
यह मानेगा और कहेगा 'मुझ से ये जड़भाव अभिन्न ?'

(३००/२)

आत्मस्वरूप की अज्ञता ही बंधन का मूल है

शुद्ध बुद्ध ज्ञायक स्वभाव तू एक बार अनुभव कर, भ्रात !
तव कल्याण इसी में निश्चित, यही मुक्ति का पथ अवदात ।
निज स्वभाव परिज्ञात किये बिन चेतन भटक रहा भव भ्रांत ।
मोह राग द्वेषादि विकृति वश बंधन में फँस बना अशांत ।

---

(२९८) विड्रूप—खोटा रूप ।

(३०१)

अपराधी जीव बँधता और निरपराध मुक्त होता है

चौर्य आदि अपराध शील जन कर कुकर्म पाता नहि शांति ।
कहीं न बाँधा मारा जाऊँ ! यों रहती मन घोर अशांति ।
जहां कहीं जाता–रहता है आशंकाओं से आक्रांत ।
पापी मन में परितापों से पीड़ित रहता निपट अशांत ।

(३०२–३०३)

जो धर्मी अपराध न करता वह रहता सर्वत्र निशंक ।
देश विदेश विचरता, उसको रोके-कौन जान निकलंक ।
त्यों चेतन बंधन में पड़ता जब भी करता वह अपराध ।
निरपराध रह वही मुक्ति पा करता पूर्ण आत्म की साध ।

(३०४)

अपराध का स्वरूप व नामातर

राध, सिद्ध, साधित, आराधित या संसिद्धि आदि सब नाम ।
एक अर्थ वाचक हैं, इनमें अर्थ भिन्नता तनिक न थाम ।
कर पर का परिहार स्वात्म की सिद्धि-साधना ही है राध ।
जो हो राध रहित वह निश्चित ही कहलाता है अपराध ।

(३०५—३०६)

निर्विकल्प दशा में प्रतिक्रमण का विकल्प विष कुंभ है

निरपराध चेतन रहता है सतत निशंक और स्वाधीन ।
निज को शुद्ध अनुभवित कर वह निज में ही रमता अमलीन ।
प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, धारणा, निंदा, गर्हा और निवृत्ति ।
शुद्धि तथा परिहार, अष्ट विध है विषकुंभ सदा चिद्वृत्ति ।

(३०७/१)

अप्रतिक्रमण (निर्विकल्प दशा) अमृत कुंभ है

अप्रतिक्रमण, निंदा गर्हा, अथवा अधारणा निः परिहार ।
वा अनिवृत्ति, अशुद्धि ये कहे अमृत कुंभ मुनि जीवन सार ।
यतः स्वानुभव रत रहता जन निर्विकल्प बन निजरसलीन ।
उपर्युक्त परिपूर्ण कथन भी उसे लक्ष्य कर किया, प्रवीण !

(३०७/२)

विकल्प मात्र बंधन का कारण

प्रतिक्रमणाप्रतिक्रमण आदि कृत जब तक है संकल्प विकल्प –
तब तक कर्म बंध होता है, अस्त न यावत् अंतर्जल्प ।
'मैं हूं प्रतिक्रमण का कर्त्ता' यों जागृत हो जब अभिमान ।
आत्म साधना की न गंध तब रहती, होता बंध निदान ।

(३०७/२) अंतर्जल्प—मानसिक विकार । तादात्म्य—अभिन्नता एकत्व ।

(३०७/३)

इस संबंध में भ्रांति का निराकरण

यह न समझना प्रतिक्रमणादिक सर्व दृष्टि है धर्म विरुद्ध ।
यतः विकल्प दशा में मुनि को वे आवश्यक हैं अविरुद्ध ।
हो जाने पर दोष न करता यदि मुनि प्रतिक्रमण कर शुद्धि ।
है सविकल्प दशा में यदि वह तब मुनि ही न रहा दुर्बुद्धि ।

(३०७/४)

परम समाधि दशा में होते सर्व शुभाशुभ भाव विलीन ।
व्यवहाराश्रित धर्म क्रिया सब हो जाती निश्चय में लीन ।
स्वानुभूति में रमण करें या प्रतिक्रमण में देवें ध्यान ?
स्वानुभूति तज प्रतिक्रमण में चित्तवृत्ति ही पतन महान ।

इति मोक्षाधिकारः

सर्व विशुद्ध ज्ञानाधिकार

(३०८)

प्रत्येक द्रव्य अपने अपने गुण-पर्यायों का ही कर्त्ता है

जिन आत्मीय गुणों से होता स्वतः प्रत्येक द्रव्य उत्पन्न ।
वह उनसे अनन्य ही रहता, गुण न द्रव्य से होते भिन्न ।
स्वर्ण मुद्रिका आदि रूप धर ज्यों परिणमता विविध प्रकार ।
निश्चित ही वे मुद्रिकादि सब स्वर्णमयी होते साकार ।

(३०९)

त्यों अजीव या जीव द्रव्य में होते जो परिणाम विभिन्न ।
वे उनसे अनन्य ही होते—पर्यायों से द्रव्य न भिन्न ।
अभिप्राय यह है कि द्रव्य कहलाता है—गुण पर्ययवान ।
किंतु सहज तादात्म्य द्रव्य गुण पर्यय में रहता अम्लान ।

(३०९) तादात्म्य—अभिन्नता, एकत्व ।

(३१०)

जीव द्रव्य अन्य द्रव्य का कार्य या कारण नहीं है

यतः कभी भी नहीं किसी से जीव द्रव्य होता उत्पन्न ।
अतः कार्य वह अन्य द्रव्य का बंधु ! न हो सकता निष्पन्न ।
तथा जीव नहिं अन्य द्रव्य—गुण पर्यय का करता निर्माण ।
अतः न कारण भी वह पर का मान्य हुआ—होगा मतिमान ।

(३११)

कर्त्ता कर्म की सिद्धि परस्पराश्रित है

कर्माश्रित कर्त्ता, कर्त्ताश्रित-कर्म नियम से हों निष्पन्न ।
हो सकता निश्चित न अन्यथा कर्त्ता-कर्म भाव सम्पन्न ।
कर्म विना कर्त्ता नहिं सम्भव, त्यों न कर्तृ विन कर्म विचार ।
परस्पराश्रित ही चलता है कर्त्ता और कर्म व्यवहार ।

(३१२)

आत्मा की दुर्दशा क्यों है ?

यह प्राणी अज्ञान दशा में कर्म प्रकृतिवश हुआ विपन्न ।
नित नूतन कर विकृति स्वतः ही होता नष्ट और उत्पन्न ।
सुख-दुख कर्म फलों में रत हो यह करता रागादि विकार ।
तन्निमित्त पा कर्म रूपधर पुद्गल परिणमता साकार ।

---

(३१२) विपन्नः—विपत्ति या संकट में पड़ा हुआ ।

(३१४—३१३)

कर्म बंध का मूल कारण

जड़-चेतन गत विकृत भाव से होता उभय परस्पर बंध ।
जिससे संसृति चक्र चल रहा, कर्त्ता और कर्म संबंध ।
जब तक जीव प्रकृति रत रह, नहि-करता दोषों का परिहार ।
तावत्, अज्ञानी, असंयमी, मिथ्यादृष्टि रहे सविकार ।

(३१५)

बंध का अभाव कब होता है ?

कर्म अनंत फलों में जब वह राग द्वेष कर हो न मलीन ।
ज्ञाता दृष्टा मात्र बन रहे, नहि करता तब बंध नवीन ।
अभिप्राय यह है कि कर्म फल में विरक्त ज्ञानी निर्भ्रान्त—
नहिं भोक्तृत्व भाव बिन करता तब कर्मोंका बंध नितांत ।

(३१६)

अज्ञानी एवं ज्ञानी के भावों मे अन्तर

सुख-दुख कर्म फल निरत होकर अज्ञानी जड़ कर्माधीन ।
अहं भाव कर सुखी दुखी बन-बंधन करता नित्य नवीन ।
जब कि भेद विज्ञानी सुख-दुख मात्र कर्म फल जान प्रवीण ।
ज्ञाता दृष्टा बनस्वभाव रत तनिक न करता बंध मलीन ।

---

(३१६) निहित—तल्लीन ।

(३१७)

शास्त्र पाठी होकर भी अभव्य मिथ्यादृष्टि ही बना रहता है

चिर अज्ञान भाव संस्कारित रह कर सदा विकाराक्रांत –
भली भांति कर शास्त्र अध्ययन भी अभव्य रहता दिग्भ्रांत ।
दुग्धपान कर भी ज्यों निर्विष प्रकृति दोष वश हों न भुंजग ।
त्यों अभव्य अज्ञान भाव वश परिहरता नहिं प्रकृति कुसंग ।

(३१८)

ज्ञानी की कला निराली है

ज्ञानी रह संसार, देह, भोगों से उदासीन स्वाधीन –
सुख दुख केवल कर्मोदय कृत मधुर कटुक फल जान मलीन –
ज्ञाता दृष्टा बन परिणमता, तन्मय हो लेता नहिं स्वाद ।
स्वानुभूतिगत निजानंद का पाकर सम्यक् महा प्रसाद ।

(३१९)

ज्ञान चेतना का परिणाम

कर्म-कर्मफल शून्य चेतना जिसकी हुई ज्ञान में लीन ।
वह न कर्म कर्त्ता या उनका फल भोक्ता-रहकर स्वाधीन ।
सुख-दुख मान कर्मफल ज्ञानी, उनसे कभी न करता प्यार ।
पुण्य-पाप द्वय कर्म बंध भी करता नहिं वह समता धार ।

(३१७) प्रकृति—स्वभाव । (३१८) कृत—कर्म के ज्ञानावरणादि भेद ।

(३२०)

ज्ञानी की परिणति

ज्ञानी का वर ज्ञान चक्षु सम केवल जानें तत्व विशेष ।
बंध-मोक्ष निर्जरा आदि या कर्म जन्य सुखदु:ख अशेष ।
इन में रत हो कभी न भोक्ता और न कर्त्ता बनें प्रवीण ।
नश जाता है ज्ञान ज्योति से उसका तम अज्ञान मलीन ।

(३२१)

कर्मों को आत्म परिणाम का कर्त्ता मानने में दोष

सुर, नर, असुर, चराचर सबकी सृष्टि विष्णु कर्त्ता यों मान—
चलते कर्त्तावादी, त्यों यदि श्रमणों का भी हो श्रद्धान ।
यह कि आत्म ही षट्कायों का-संसृति में कर्त्ता निर्माण ।
कर्त्तावादी वत् श्रमणों का ठहरा तब सिद्धांत समान ।

(३२२)

पर कर्तृत्व स्वीकार करने में सैद्धांतिक हानि

विष्णु वहां जीवों का स्रष्टा—श्रमण रचें देहों के वेश ।
यों दोनों को सृजन क्रिया कर सिद्ध हो रहा राग द्वेष ।
राग द्वेष बिन मूर्ख व्यक्ति भी करता नहिं किंचित् ज्यों काम ।
सृष्टि और देहों की रचना संभव हो कैसे निष्काम ?

---

(३२१) श्रमणों—जैन दिगम्बर साधु । संसृति—संसार परिभ्रमण ।

(३२३)

पर कर्तृत्व भाव रखने वाला श्रमण मुक्ति का पात्र नहीं

इस प्रकार नहिं स्रजक विष्णु सम श्रमण भी न पा सकते मुक्ति ।
कुंभकार सम यतः सिद्ध है राग द्वेष मय उभय प्रवृत्ति ।
करता विष्णु सुरासुर सब का ज्यों निर्माण कार्य सम्पन्न –
त्यों कार्यों की श्रमण सृष्टि कर निश्चित हुआ विकरापन्न ।

(३२४)

बुद्धि भ्रम क्यों होता है ?

पर द्रव्यों में 'मेरा तेरा' यूँ जो है उपचार नितांत ।
तत्व ज्ञान से शून्य जन उसे सत्य मान बनता दिग्भ्रांत ।
आखिर पर तो पर ही रहता, कल्पित है इसमें ममकार ।
निश्चय से परमाणु मात्र पर क्या तेरा अधिकार ? विचार ।

(३२५)

लौकिक जन यों मान चल रहे मेरा है यह गृह अभिराम ।
अथवा भारत देश हमारा, या कि नगर, पुर, पत्तन, ग्राम ।
किंतु वस्तुतः किसका क्या है, यह तेरा–मेरा संसार ?
सचमुच ये परमार्थ दृष्टि से मोह जन्य हैं भ्रांत, विचार ।

(३२६)

एवं ज्ञानी भी जब पर में करता अहंकार ममकार ।
निश्चित मिथ्या दृष्टि बन रहे वह परात्मवादी साकार ।
इससे यह भी जाना जाता उक्त सृष्टि कर्त्तृत्व निदान ।
भ्रांति मात्र है, यतः जगत का है शास्वत अस्तित्व महान ।

(३२७)

पर मे कर्त्ता कर्म का व्यवहार मात्र उपचार है

ज्यों सुदृष्टि-संप्राप्त विज्ञजन तजता पर ममत्व परिणाम ।
वह तथैव कर्त्तृत्व अन्य का नहि धारण करता, निष्काम ।
पर में कर्त्तृ-कर्म का चलता जो लौकिक जन गत व्यवहार ।
वह परमार्थ दृष्टि में दिखता केवल आरोपित उपचार ।

(३२८)

पौद्गलिक कर्म जीव को वास्तव मे विकारी नही बनाता

यदि मिथ्यात्व प्रकृति जीवों को-मिथ्यादृष्टि बनाती म्लान ।
तब यह सिद्ध हुआ कि प्रकृति में ही रहता कर्त्तृत्व, निदान ।
जीव नहीं अपराध करे तो उसे न होगा बंध नवीन ।
बंध-बिना संसार प्रक्रिया का हो जाये अंत, प्रवीण !

(३२९)

जीव भी पुद्गल में विकार उत्पन्न नही करता

त्यों यदि पुद्गल में हम करते मिथ्यात्वादि मलिन परिणाम ।
तब पुद्गल मिथ्यात्वी ठहरे और जीव निर्दोष ललाम ।
बंधन तब पुद्गल को होगा, बंधन से होगा संसार ।
पुद्गल ही सुख दुख भोगेगा—जीव सिद्ध होगा अविकार ।

(३३०)

पुद्गल कर्म की परिणति पुद्गल कृत ही है

यदि जड़-चेतन मिल पुद्गल में मिथ्या भ्रांति करें उत्पन्न ।
तत्फल प्राप्ति दोष दोनों को तब अवश्य होगा निष्पन्न ।
फिर मिथ्यात्वादिक से होगा पुद्गल को निश्चित ही बंध ।
यह सिद्धांत विरुद्ध मान्यता इष्ट नहीं हो सकती, अंध !

(३३१/१)

प्रकृति-जीव मिल पुद्गल में यदि नहि करते मिथ्यात्वोत्पन्न ।
तब मिथ्यात्व रूप पुद्गल की परणति स्वतः हुई निष्पन्न ।
इससे सिद्ध हुआ—पुद्गल में होतीं जो परणतियां म्लान —
वे पुद्गल के ही विकार हैं—मात्र निमित्त चेतना म्लान ।

(३३१/२)

जीव की विकार परिणति जीव की ही है

त्यों चेतन में जो होते हैं—राग द्वेष परिणाम मलीन—
वे चेतन के ही विकार हैं, तन्निमित्त कर्मोदय हीन ।
निज परणति निज में निज से ही होती है निश्चित स्वाधीन ।
किंतु विकृति में पर निमित्तता टाली जा सकती न, प्रवीण !

(३३२)

एकांत रूप में कर्म कर्त्तृत्व का पूर्व पक्ष

ज्ञानावरण कर्म से चेतन किया जा रहा है अज्ञान ।
क्षय-उपशम के द्वार उसी के जीव प्राप्त करता है ज्ञान ।
निद्रा कर्म सुलाता, उसका उपशम हमें जगाता है ।
मोह प्रकृति से प्रेरित चेतन भव भव में भरमाता है ।

(३३३)

साता कर्म-उदय जीवन में सुख साता करता उत्पन्न ।
हो संतप्त दुखों में रोता जीव असाता-उदय विपन्न ।
भ्रम होता मिथ्यात्व कर्म के उदय जीव में विविध प्रकार ।
चरित मोह कृत संयम भावों में होते रागादि विकार ।

(३३१/२) विकृति—विकार ।

(३३४)

पुण्य कर्म से जीव स्वर्ग में करता है सानंद निवास ।
पाप कर्म से पीड़ित होकर नरकों में करता वह वास ।
मर्त्य लोक में तर तन पाकर भी पाता दुख जीव अतीव ।
कर्म शुभाशुभ के प्रसाद से नाना रंग बदलता जीव ।

(३३५)

एकांत रूप में कर्म का कर्तृत्व मानने में हानि

इष्टानिष्ट वस्तुएं सब ही कर्म जीव को करें प्रदान ।
सब संयोग वियोग कर्म कृत, इससे कर्म महा बलवान ।
यों तथोक्त यदि कर्मों की ही लीला मानी जाय नितांत ।
जीव तदा एकांत अकर्त्ता ही ठहरा तव मत से, भ्रांत !

(३३६)

नारी वेद स्रजन करता है पुरुषों से रमने का भाव ।
पुरुष वेद त्यों ही नारी से रमने का करता दुर्भाव ।
परम्परागत आचार्यों की यह श्रुति ही करलें यदि मान्य ।
विषयवासनादिक जीवों कृत हो जाती तब स्वयं अमान्य ।

---

(३३५) तथोक्त—इस प्रकार ऊपर कही गई, वर्णित । द्वार—द्वारा ।

(३३७—३३८)

कोई फिर अब्रह्मचारी भी नहीं रहा तव उक्ति प्रमाण ।
अमुक वेद जब इतर वेद का इच्छुक मान किया श्रद्धान ।
यों ही जब परघात नाम की एक प्रकृति करली स्वीकार ।
जो कि बार करती तदन्य पर विविध भाँति कर तीव्र प्रहार ।

(३३९—३४०)

उपर्युक्त कर्तृत्व का सिद्धात स्वीकार करने मे दोषोद्भावन

इसीलिये हिंसक नहिं तब फिर ठहरेगा कोई भी जीव ।
यतः प्रकृति ही अन्य प्रकृति की घातक ठहर रही निर्जीव ।
इस प्रकार जिन जिन श्रमणों को स्वीकृत हुआ सांख्य सिद्धांत ।
उनके यहां प्रकृति ही कर्ता, जीव अकर्ता ठहरै, भ्रांत !

(३४१—३४२)

कुछ अन्य भ्रमों का निराकरण

अथवा स्वयं आत्म ही अपने द्वार आत्म में करे विकार ।
ऐसा मान्य किये भी मिथ्या ठहरेगा तव उक्त विचार ।
यतः असंख्य प्रदेशी शास्वत नित्य मान्य है आत्म नितांत ।
उसमें कुछ भी हीनाधिकता लाना शक्य किसे ? मतिभ्रांत !

(३४३—३४४)

जीव लोक व्यापी बन सकता स्वीय असंख्य प्रदेश प्रसार ।
उन्हें हीन या अधिक कौन करने समर्थ तब किसी प्रकार ?
यदि चिद्ज्ञायक ज्ञान स्वभावी कर लेते हो तुम स्वीकार ।
तदा न संभव आत्म मात्र में आत्म द्वार, रागादि विकार ।

(३४४/२)

जीव में कूटस्थ नित्यता संभव नही

मिथ्यात्वादि मलिन भावों को करता किन्तु जीव अज्ञान ;
अतः न उनका कर्त्ता कैसे मानेगा फिर तू ? अनजान !
नहि कूटस्थ नित्य में संभव हो सकता नूतन परिणाम ।
अतः नित्य वत् वह अनित्य भी सिद्ध कथंचित् है चिद्धाम ।

(३४४/३)

जीव की अनेकांतात्मकता

ज्ञायक चित् सामान्य दृष्टि से आदि अंत बिन ज्ञान स्वरूप ।
किंतु विशेष दृष्टि परिणामी सादि सांत है वही अनूप ।
अनेकांत सिद्धांत वस्तु को स्वयं सुरुचिकर है, मतिमान !
हम तुम क्या कर सकें, जब कि सत् अनेकांत मय है सप्रमाण ।

---

(३४४) कूटस्थ–जिसमें कुछ परिवर्तन न हो । (३४४/३) चित्-आत्मा ।

(३४५)

आत्मा कथंचित् नित्यानित्य है, सर्वथा नही

यतः किन्हीं पर्यायों द्वारा—होता जीव नाश को प्राप्त ।
और किन्हीं द्वारा न नष्ट हो पर्यायों में रहकर व्याप्त ।
ध्रौव्य दृष्टि में एक हि कर्त्ता, अध्रुव दृष्टि से भिन्न नितांत ।
यों कर्त्तृत्व विषय में निश्चित, सिद्ध नहीं होता एकांत ।

(३४६)

वस्तु अनेकांतात्मक है

इस प्रकार कुछ पर्यायों से चेतन होता नष्टोत्पन्न ।
कुछ से स्थिर रहता, यों वेदक वही या कि होता तद्भिन्न ।
कर्त्ता—भोक्ता वही ठहरता शाश्वत अन्वय दृष्टि प्रमाण ।
पर्यायों की दृष्टि उभय में रहता है भिन्नत्व महान ।

(३४७/१)

अनित्यैकांत में दोषोद्भावन

'कर्त्ता से भोक्ता सदैव ही निश्चित होता भिन्न नितांत'
क्षण भंगुर पर्याय निरख यों जिसने ग्रहण किया एकांत ।
उसका यह सिद्धांत भ्रांत है, अतः जीव वह मिथ्यादृष्टि ।
जिनमत या प्रमाण से मिथ्या-क्षणिक वाद की दिखती सृष्टि ।

---

(३४५) ध्रौव्य—टिकने वाला, । ३४६ वेदक—अनुभव करने वाला । अन्वय—जिसका जिससे लगातार संबंध हो उस लगातार संबंध को अन्वय कहते हैं ।

(३४७/२)

बाल्य काल में मैं बालक था, मैं ही युवा हुआ, नहिं अन्य ।
बाल्य-युवावस्था में दिखता-भेद, किन्तु मैं वही अनन्य ।
यों अन्वय से नित्य सिद्ध है जबकि स्वीय आत्मत्व महान,
भिन्न भिन्न तब कर्ता भोक्ता माने, वह मिथ्यामति जान ।

(३४७/३)

जो यह मान चलें कि सर्वथा-क्षणिक तत्व ही रहता शुद्ध ।
उसका यह सिद्धांत द्रव्य की दृष्टि ठहरता दृष्ट विरुद्ध ।
अतः कर्म का करने वाला भोक्ता नहिं होता-सिद्धांत –
मिथ्या पूर्ण प्रमाणित होता, जिनमत-दृष्ट विरुद्ध नितांत ।

(३४८)

वस्तु मे अनेकांतात्मकता स्वतः सिद्ध है

अभिप्राय यह है कि वस्तु है स्वतः सिद्ध गुण पर्ययवान् ।
इसीलिये गुण दृष्टि नित्य-एवं अनित्य पर्याय प्रमाण ।
कर्त्ता-भोक्ता भिन्न भिन्न ही जिसका है ऐसा सिद्धांत ।
वह मानव मिथ्यात्व ग्रस्त है-अर्हन्मत विपरीत नितांत ।

(३४७/२) स्वीय-अपना। (३४८) अर्हन्मत-अर्हंत भगवान् का मत, जैन मत।

(३४९)

जीव कर्म को निमित्त दृष्टि से करता होकर भी
तन्मय नहीं होता

शिल्पी यथा स्वर्ण से करता विविध भूषणों का निर्माण ;
किंतु स्वयं नहि भूषण बनता, शिल्पी-शिल्पी रहे, निदान ।
त्यों कर्मों का कर्त्ता चेतन स्वयं न परिणमता बन कर्म ।
स्वर्णाभूषण वत् पुद्गल ही परिणमता बन कर्म—अकर्म ।

(३५०)

दृष्टांत पुरस्सर उक्त कथन का समर्थन

यथा शिल्पि उपकरणों द्वारा भूषण का करता, निर्माण ।
किन्तु स्वयं उपकरण रूप नहि परिणमता है वह, मतिमान !
तथा करण मन वचन काय से जीव कर्म करता निष्पन्न ।
किन्तु स्वयं नहि मन वच काया बन करता उनको सम्पन्न ।

(३५१)

यथा शिल्पि उपकरण ग्रहण कर भी न उपकरण बनै, प्रवीण !
त्यों चेतन यद्यपि योगों से कर्म ग्रहण कर बनै मलीन ;
किन्तु स्वयं मन वच काया नहिं बन परिणमता है चैतन्य ।
दोनों ही सत्ता स्वरूप में सदा भिन्न है, अन्य हि अन्य ।

---

(३५०) पुरस्सर—सहित । करण—जिसके द्वारा कार्य संपन्न हो ।

(३५२)

यथा शिल्पि अपनी कृतियों के फल स्वरूप धन पाता है ।
किंतु कभी वह परिवर्तित हो स्वयं न धन बन जाता है ।
तथा जीव भी पुण्य-पाप मय कर्म बंध कर नित्य नवीन ।
तत्फल पाता, किन्तु कभी वह स्वयं न फल बन जाय, प्रवीण !

(३५३)

वर्णन यों संक्षिप्त पराश्रित बंधु ! किया व्यवहाराधीन ।
जिसमें है निमित्त नैमित्तिक भाव—दृष्टि प्राधान्य प्रवीण !
अब निश्चय का कथन सुनो, जो रहकर निज परिणामाधीन—
स्वाश्रित ही वर्णन करता है, जहाँ पराश्रित दृष्टविलीन ।

(३५४–३५५)

निश्चय नय से आत्मा स्वय रागी द्वेषी एवं सुखी दुखी होता है
(उपादान उपादेय की दृष्टि से)

शिल्पी कर चेष्टाएँ अगणित रहता उनसे सदा अभिन्न ।
चेष्टमान रागादिक से त्यों जीव नहीं रहता है भिन्न ।
यथा शिल्पि नाना चेष्टा कर होता स्वयं व्यग्र, नहिं अन्य ।
त्यों चेतन भी चेष्टमान बन दुख मय परिणत हो—तदनन्य ।

---

(३५४) व्यग्र—परेशान, आकुल, व्याकुल। भित्ति—दीवार।

(३५६)

उल्लिखित कथन का दृष्टांत द्वारा समर्थन

चूना स्वतः शुक्ल है, नहि वह भित्ति कृत हुआ शुक्ल नवीन ।
त्यों चेतन नहि ज्ञायक पर से, वह है ज्ञानमयी स्वाधीन ।
पुतने पर ही नहि चूने में आता शुक्ल पने का भाव ।
त्यों पर द्रव्य ज्ञान से ही नहिं चेतन में है ज्ञायकभाव ।

(३५७–३५८)

चूने में ज्यों भित्ति आदि से शुक्ल भाव नहि हो उत्पन्न ।
त्यों दर्शक नहि पर दर्शन से, दर्शक स्वयं दृष्टि–सम्पन्न ।
चूना स्वतः श्वेत, नहिं परकृत–वह शुक्लत्व भाव को प्राप्त ।
त्यों संयत चेतन स्वभाव से, नहि पर त्यागवृत्ति-संप्राप्त ।

(३५९–३६०)

चूने में शुक्लत्व स्वतः है, नहिं वह पर कृत शुक्ल, प्रवीण !
त्यों पर श्रद्धा जन्य न दर्शन, दर्शन की सत्ता स्वाधीन ।
अभिप्राय यह है कि वस्तुतः दर्शन ज्ञान चरित्र निधान –
जीव स्वतः स्वाभाविक ही है, नहि पर कृत हैं दर्शन ज्ञान ।

(३६०–३६१)

व्यवहार नय से आत्मा अन्य द्रव्यों का ज्ञाता दृष्टा है इसका
दृष्टांत पुरस्सर समर्थन

यों निश्चय से प्रतिपादित है दर्शन ज्ञान चरण स्वाधीन ।
अब संक्षिप्त कथन सुनिये जो पर आश्रित व्यवहाराधीन ।
यथा भित्ति को निज स्वभाव से चूना करता शुक्ल अशेष ।
त्यों ज्ञानी ज्ञायक स्वभाव कर अन्य द्रव्य ज्ञाता निःशेष ।

(३६२–३६३)

चूना करता निज स्वभाव से दीवारें ज्यों श्वेत अशेष ।
त्यों ज्ञानी दर्शन गुण द्वारा अवलोकन करता निःशेष ।
यथा भित्ति को निज स्वभाव से चूना कर देता है श्वेत ।
त्यों ज्ञानी वैराग्य भाव से बाह्य वस्तु त्यागी अभिप्रेत ।

(३६४–३६५/१)

चूना निज स्वभाव से करता दीवारें ज्यों श्वेत अशेष ।
त्यों सुदृष्टि श्रद्धा करता है तत्वार्थों पर प्रिय ! सविशेष ।
एवं दर्शन ज्ञान चरण में अन्याश्रित होता व्यवहार ।
अन्याश्रित व्यवहार कथन सब होता रहता इसी प्रकार ।

---

(३६२) अभिप्रेत– मान्य ।

(३६५/२)

अन्य व्यवहार कर्त्तृत्व का स्पष्टीकरण

निर्मित किया यथा गृह मैंने अथवा किया दुग्ध का पान ।
विष त्यागा कंटक निकलाया आदि सर्व व्यवहार विधान ।
मैं पर का ज्ञाता दृष्टा हूँ यह कथनी भी है व्यवहार ।
निश्चय से चेतन है निज का ही बस जानन देखन हार ।

(३६६–३६७)

निश्चय से पर के कर्त्तृत्व का स्पष्टीकरण

दर्शन ज्ञान चरित्र नहीं है जड़ इन्द्रिय विषयों में लेश ।
इनका घात क्या करें चेतन, इसका जब उनमें न प्रवेश ।
जड़ कर्मों में भी ज्ञानादिक गुण करते है नहीं प्रवेश ।
अतः जीव जड़ कर्मों का भी घात करेगा कैसे लेश ?

(३६८–३६९)

जड़ काया में भी रत्नत्रय होते नहीं रंच गतिमान् ।
अतः जीव काया का भी नहिं घात कर सके निश्चय जान ।
अज्ञानी अज्ञान भाव से करता रत्नत्रय का ह्रास ।
पुद्गलादि पर द्रव्यों का वह कर सकता नहि रंच विनाश ।

(३७०–३७१)

अन्य द्रव्य के गुण धर्मों का अन्य द्रव्य में हो न प्रवेश ।
इसीलिये इन्द्रिय विषयों में हो सुदृष्टि को राग न लेश ।
राग, द्वेष, मोहादि विकारी-जीवों के परिणाम अभिन्न ।
शब्दादिक जड़ परणतियों से प्रकट राग द्वेषादिक भिन्न ।

(३७२)

राग-द्वेष परिणाम निश्चय से जीव के ही हैं

अन्य द्रव्य द्वारा न अन्य में गुण हो सकते हैं उत्पन्न ।
नित स्वकीय भावों से निश्चित द्रव्य हुआ करते निष्पन्न ।
राग द्वेष परिणाम तत्वतः जीव परिणमन है निर्भ्रान्ति ।
पुद्गल पर कर्त्तृत्व रोपना है केवल उपचार नितांत ।

(३७३)

इन्द्रिय विषयो मे राग-द्वेष जीव के अज्ञान से होते है

शब्द वर्गणायें भाषा बन परिणमती हैं विविध प्रकार ।
जीव जिन्हें सुन राग द्वेष कर सुखी दुखी बनता सविकार ।
इष्ट वचन सुन तुष्ट, किंतु प्रतिकूल सुन बनें रुष्ट महान ।
अहंकार ममकार मगन बन भव भव भटक रहा अनजान ।

(३७४)

'मुझे यों कहा' यह विचार कर हर्ष विषाद करें मतिहीन ।
यह न समझता-शब्द पौद्गलिक जड़ परणति है ज्ञान विहीन ।
तुझे कुछ नहीं कहा शब्द ने, तू क्यों रूस रहा नादान ।
शब्द रूप पुद्गल परणति में तव न हिताहित है अनजान ।

(३७५-३७६)

शब्द शुभाशुभ तुम्हें न कहते—'हमें सुनो तुम देकर ध्यान'—
और न शब्द रूप परिणमता कभी जीव या उसका ज्ञान ।
'मुझे देखिये' यों न रूप ने भी आकर की कभी पुकार,
नहिं प्रवेश करता बर बस वह तेरे चक्षु पुटों के द्वार ।

(३७७-३७८)

त्यों सुगंध दुर्गंध न कहतीं उन्हें सूंघने की कुछ बात,
या न नासिका में प्रवेश कर बल प्रयोग करती वे, भ्रात !
रस भी कब दुनियाँ से कहता—मुझे चखो, मैं हूँ स्वादिष्ट ।
और न रसना से आलिंगन कर बनता वह इष्ट-अनिष्ट ।

---

(३७४) रूस रहा—नाराज हो रहा । निहित—स्थापित ।

(३७९–३८०)

स्पर्श प्रिय अप्रिय भी नहि कहता कोई हमें छुए लवलेश ।
वह बरबस लिपटै नहिं आकर या न गृहों में करै प्रवेश ।
यों जड़ के गुण दोष न करते आग्रह हमसे रंच, प्रवीण !
बुद्धि द्वार भी नहि प्रवेश कर गुप्त प्रेरणा करते दीन ।

(३८१–३८२)

द्रव्य, शुभाशुभ जिन्हें मान हम जान रहे क्षण क्षण सविशेष ।
त्यागो, भोगो, जानो, या तुम ग्रहण करो, कहते नहि लेश ।
यह सुस्पष्ट भासता सब को, फिर भी मूढ़ न होता शांत ।
समता सुधा पान तज विषयों में ही रमता चिर चिद्भ्रांत ।

(३८३–३८४)

प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान का स्वरूप

पूर्व शुभाशुभ कर्मोदय में हर्ष विषाद न कर, बन शांत—
उनसे अपना पिंड छुड़ाना, प्रतिक्रमण है यही नितांत ।
कर्म बंध संभावित रहता जिन भावों के द्वारा म्लान ।
सम भावों से उन्हें विसर्जित करना ही है प्रत्याख्यान ।

---

(३८३) विसर्जित करना—त्याग करना ।

(३८५–३८६)

आलोचना और चरित्र का स्वरूप

वर्तमान उदयावलि में जो कर्म, शुभाशुभ करें प्रवेश ।
उनमें राग द्वेष नहि करना, आलोचन है यही विशेष ।
पूर्व कर्म का प्रति क्रमण कर आगामी का प्रत्याख्यान ।
वर्तमान की समालोचना करना ही चरित्र महान ।

(३८७–३८८)

दु:ख बीज-कर्म और उसका कारण

कर्म फलों को वेदन कर जो अपनाता उनको अनजान ।
दु:ख बीज वसुकर्म मयी वह पुनः वपन करता है म्लान ।
कर्मफलों को वेदन कर जो उन्हें स्वकृत रहता है मान ।
दु:ख बीज वसु कर्म रूप वह भी बो लेता है नादान ।

(३८९/१)

जीव कर्म फल वेदन कर जब सुखी दुखी हो विसर स्वरूप ।
तब वसु कर्म बंध करता है, होता जो दुख–बीज विरूप ।
स्वाश्रित कर्म निवृत्ति हेतु सुन, उपयोगी संक्षिप्त विधान ।
जो निश्चय से आलोचन, प्रतिक्रमण और हैं प्रत्याख्यान ।

(३८९/१)विकल्प–सबोध । (३८९/२)समयता–पूर्णता । (३८९/३)[illegible] ।

(३८६/२)

आस्तविक आलोचन प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान का स्वरूप

भूत, भविष्यत, बर्तमान में जितने पाप जान–अनजान––
मन-वचन-तन, कृत-कारित-मोदन द्वार हुए, हों–होंगे म्लान ।
उनमें तज ममता समग्रतः करना चिदानंदरसपान ।
यही वस्तुतः आलोचन है प्रतिक्रमण या प्रत्याख्यान ।

(३८६/३)

ज्ञान, कर्म और कर्मफल चेतना

चिदानंद रस लीन आत्म ही ज्ञान चेतना है स्वाधीन ।
राग द्वेषमय परणति ही है कर्म चेतना सतत मलीन ।
हर्ष विषाद मयी परणति हो सुख दुख कर्म फलों में वाम ।
वही कर्मफलमयी चेतना अप्रति बुद्धता का परिणाम ।

(३८६/४)

चेतनाश्रय का शुद्ध और अशुद्ध चेतना में विभाजन

कर्म-कर्मफल उभय चेतना हैं अशुद्ध चेतन के रूप ।
ज्ञान चेतना ही निश्चय से निर्विकार शुद्धात्म स्वरूप ।
राग-द्वेष तज, सुख-दुख में जब जीव न करता हर्ष-विषाद ।
तब कैवल्य प्राप्त कर पाता चिदानंद का महा प्रसाद ।

(३९०)

शास्त्रों से ज्ञान की भिन्नता

ज्ञान-भाव श्रुत, शास्त्र-द्रव्य श्रुत, दोनों में भिन्नत्व अतीव ।
शास्त्र चेतना शून्य वस्तु है जो न स्वयं जाने निर्जीव ।
ज्ञान जब कि चैतन्य मयी है, शास्त्रों से जो भिन्न नितांत ।
यों शास्त्रों में ज्ञान सर्वथा भिन्न सिद्ध होता निर्भ्रान्त ।

(३९१)

ज्ञान की शब्दों से भिन्नता

शास्त्र समान शब्द भी जड़ है, ज्ञान भाव से भिन्न महान ।
पुद्गल की व्यंजन पर्यायों में गर्भित है शब्द, निदान ।
शब्द जान सकता न तनिक भी, जब कि ज्ञान चैतन्य स्वभाव ।
यों पौद्गलिक शब्द से निश्चित ज्ञान भिन्न है स्वतः स्वभाव ।

(३९२–३९६)

ज्ञान की आकृति एवं रूप रसादि से भिन्नता

आकृतियाँ भी जितनी दिखती, वे क्या हैं ? पुद्गल संस्थान ।
चेतन का अस्तित्व न उनमें, अतः ज्ञान से भिन्न महान ।
आकृति या रस रूप, गंध वा स्पर्श आदि पुद्गल के वेश ।
ज्ञान सिद्ध नहिं हो सकते हैं—जिनमें नहीं चेतना लेश ।

---

(३९०) अतीव—बहुत ज्यादा । (३९२) संस्थान—रचना, आकार ।

(३९७–४०१)

ज्ञान की पुद्गल कर्म एव धर्म अधर्मादि से भिन्नता

कर्म भी नहीं ज्ञान बन सके जो पुद्गल परिणाम मलीन ।
ज्ञान चेतना का स्वभाव है, अतः भिन्न है वह स्वाधीन ।
पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल, नभ, ये सब चेतन शून्य नितांत ।
अतः ज्ञान से भिन्न सदा ही स्वतः सिद्ध हैं जड़ निर्भ्रान्त ।

(४०२–४०३)

अध्यवसानों से ज्ञान की भिन्नता

अध्यवसान अचेतन हैं जो पुद्गल कर्मों से निष्पन्न ।
ज्ञान रूप परिणमन न वे भी कर सकते रह कर चिद्भिन्न ।
चेतन ज्ञायक है स्वभावतः सतत ज्ञान सम्पन्न अनूप ।
ज्ञान रहा करता ज्ञानी से अव्यतिरिक्त तादात्म्य स्वरूप ।

(४०४)

सम्यग्दर्शन, शुचि संयम या अंग पूर्वगत सूत्र महान ।
धर्माधर्म प्रव्रज्या ये सब ज्ञान समाहित हैं, मतिमान !
जीव न आहारक बन सकता–माना जिसने उसे अमूर्त ।
कर्म और नो कर्म पौद्गलिक सर्वाहार जब कि है मूर्त्त ।

---

(४०२) अध्यवसान–विकारी भाव। अव्यतिरिक्त–अभिन्न।

(४०६)

निश्चय से जीव पर वस्तु का त्याग ग्रहण नही करता

स्वाभाविक या प्रायोगिक निज-गुण धर्मों से जीव कभी न—
पर का त्याग-ग्रहण करने की रखता है सामर्थ्य,प्रवीण ।

(४०७/१)

एवं नहिं शुद्धात्म तत्वविद् वीतराग समदृष्टि उदार—
किसी सचित्ताचित्त वस्तु का त्याग ग्रहण करता स्वीकार ।
निश्चय नय की दृष्टि निजाश्रित ही रहती है सतत अनन्य ।
तदनुसार निज भावों का ही त्याग ग्रहण करता चैतन्य ।

(४०७/२ (

व्यवहार नय से पर वस्तु का त्याग ग्रहण स्वीकृत है

नय व्यवहार किंतु करता है पर के त्याग ग्रहण की बात ।
पर निमित्त आश्रित रहती है जिसकी दृष्टि-सृष्टि अवदात ।
'यह त्यागा, वह ग्रहण किया' यों भाव किया करता चैतन्य ।
किन्तु वस्तु का त्याग ग्रहण नहिं निश्चय नय में मान्य तदन्य ।

(४०७/१) तत्वविद्—तत्वज्ञानी। (४०७/२) अवदात—निर्दोष ।

(४०८/१)

निश्चय से शारिरिक लिग (वेश) मुक्ति मार्ग नही

गृह या बन में परिग्रहीत जो देहाश्रित होते हैं वेश ।
मूढ़ उन्हें ही मान मुक्ति पथ रत हों, जिसमें तथ्य न लेश ।
गर्दभ सिंह नहीं बन सकता धारण कर उसका परिवेश ।
अंतर शुद्धि बिना त्यों जन को लिंग मात्र से मुक्ति न लेश ।

(४०८/२)

यों भी निश्चय नय से चेतन ग्रहण न करता कुछ भी अन्य ।
तब कैसे ग्रहीत हो सकते देहादिक—जो पुद्गल जन्य ?
जबकि देह का ही न त्याग या ग्रहण जीव को है स्वीकार ।
देहों के नाना वेशों को कर लें कैसे अंगीकार ?

(४०९)

अर्हन्-तज परिपूर्ण देहगत अहंकार ममकार विकार ।
सम्यक्दर्शन ज्ञान चरण में रत हो पाते मुक्ति उदार ।
बाह्याभ्यंतर सर्व परिग्रह से विहीन मुनि बन स्वाधीन—
आत्म साधना में रत होते आत्म सिद्धि के हेतु, प्रवीण !

(४१०)

इस प्रकार श्रीमन्जिनेन्द्र ने पाखंडी जो वेश अशेष--
या गृहस्थ के विविध वेश है, उन में तथ्य न पाकर लेश--
दर्शन ज्ञान चरित्र मयी ही स्वाश्रित मुक्ति मार्ग निर्धार--
घोषित किया भावलिंगी को समयसार सम्प्राप्त्याधिकार ।

(४११)

वस्तुत: शारिरिक वेश शुक्ति मार्ग न होकर रत्नत्रय
ही मुक्तिमार्ग है

अतः संत ! सागार तथा अनगारों के शारीरिक वेश --
सर्व आत्म से भिन्न समझ कर मुक्ति मार्ग में करो प्रवेश ।
मुक्ति मार्ग जिन कथित सुनिश्चित सम्यक्दर्शन सम्यक्ज्ञान ।
सम्यक्चरित नाम से व्यवहृत स्वात्मस्थिति, रुचि, ज्ञप्ति महान ।

(४१२)

आत्म-संबोधन

चेतन ! तू प्रज्ञापराधवश कब से बना हुआ दिग्भ्रांत ?
अब भी चेत, स्वात्म संस्थितिकर, मुक्ति पथ-पथिक बन निर्भ्रान्त
केवल उस ही का चिंतन कर, उसमें कर सानंद विहार ।
पर द्रव्यों भावों वेशों में उलझ न भ्रमवश कर ममकार ।

---

(४१०) पाखंडी--मुनि के बाह्य वेश । (४११) सागार--गृहस्थ । अनगारों--साधुओं ।
ज्ञप्ति--जानना, ज्ञानभाव । (४१२) प्रज्ञापराध--अज्ञानता अन्य भाव ।

(४१३)

सागारों या अनगारों के बाह्य वेश जो विविध प्रकार ।
उनमें मोहित जन क्या जाने पावन समयसार अविकार ?
भावलिंग बिन द्रव्यलिंग में अहंभाव धर हुआ विमूढ़ ।
वह परमार्थ शून्य तंडुल तज तुष संचय करता है मूढ़ ।

(४१४/१)

व्यवहारनय मोक्ष मार्ग में दोनों लिंगों का वर्णन करता है

नय व्वहार किंतु करता द्वय लिंग मुक्ति पथ में स्वीकार ।
द्रव्य-लिंग को भावलिंग का सहचारी सम्यक् निर्धार ।
परमार्थी को मुनि श्रावक के उभय लिंग पड़ते अनुकूल ।
अतः इन्हें स्वीकृत कर भी वह इनमें ही जाता नहि फूल ।

(४१४/२)

"मैं हूँ श्रमण या कि श्रावक हूँ" यूँ कर अहंकार ममकार–
भावलिंग से शून्य जन कभी पा न सके संसृति का पार ।
निश्चय नय को नहिं अभीष्ट है किंचित् भी बहिरंग विचार ।
इससे यह न समझना-रहता अर्थ शून्य जिनलिंग उदार ।

(४१३) तुष्-छिलका । (४१४/१) द्वय–दो । द्रव्यलिंग–शारीरिक बाह्य वेश ।
भावलिंग–आत्मा के भावों में वास्तविक निर्मलता ।

(११४/३)

"तथा दुराशय यह मत लेना—मुनि बनना है व्यर्थ समान—
हम स्वछंद विचरण कर निश्चय नय से कर लेंगे कल्याण।"
जो स्वछंद विचरण करता वह मार्ग भ्रष्ट व्यवहार विहीन—
निश्चय पथ से बहुत दूर है स्वैराचारी सतत मलीन ।

(४१४/४)

श्रावक-श्रमण वृत्ति या तप, व्रत, संयमादि नहि व्यर्थ, निदान ।
निश्चय पथ में परम सहायक बन करते जो जन कल्याण ।
इन्द्रिय विषयासक्त, पापरत, पाखंडी, व्यसनों में चूर—
शठ से रहती आत्म साधना—सत्समाधि सब कोसों दूर ।

(४१४/५)

जबकि पाप सह विषय वासना विषका सम्यक् कर परिहार ।
द्रव्यलिंग मुनि-श्रावक का गह पाता व्यक्ति समय का सार ।
अभिप्राय यह है कि समन्वित नय सुदृष्टि द्वारा सविशेष—
तत्व समझ निष्पक्ष भाव से समयसार में करो प्रवेश ।

(४१४/६)

निरपेक्ष ज्ञान एवं क्रिया नय से मुक्ति नहीं मिल सकती ।

मात्र ज्ञान नय पक्ष ग्रहण कर जो स्वच्छंद बन रहा नितांत ।
क्रिया पक्ष की निंदा करता, वह डूबेगा–गह एकांत ।
त्यों ही केवल क्रियाकांड में जो रत रहता ज्ञान विहीन ।
वह संस्सृति में ही भटकेगा भ्रांत पथिक बेचारा दीन ।

(४१७/७)

मुक्ति कौन प्राप्त करता है ?

किंतु वासना पाप कषायों का मन वच तन कर परिहार––
जो मुनि ज्ञान क्रिया मैत्री गह समदर्शी बन रहें उदार ।
स्याद्वाद कौशल कर निश्चल संयम साधन में बन लीन ।
भवसागर से हो जाते हैं पार परम योगीन्द्र प्रवीण ।

इति सर्व विशुद्ध ज्ञानाधिकारः

अत मगल

(४१५)

समयसार वैभव असीम है, झलक मात्र यह ग्रंथ, निदान ।
इसे मनन कर प्रथम तत्व को जो यथार्थ कर वर पहचान––
श्रद्धारत रम रहें उसी में कर वर चिदानन्द रसपान ।
उन्हें मुक्ति साम्राज्य सहज ही हो जाये संप्राप्त महान ।

इति श्री समयसार-वैभव ग्रन्थ समाप्तम्

अंतिम प्रशस्ति

(१)

श्रीमद्भगवत्कुन्दकुन्द ने आत्म विभव प्रकटा अम्लान —
समयसार चिर ज्योति जगाई जगती पर जिनवचन प्रमाण ।
भगवन्नमृतचन्द्र श्रीमज्जयसेन सूरि गुरुवर्य उदार ।
आत्मख्याति तात्पर्यवृत्ति रच उसी तत्व का किया प्रसार ।

(२)

विद्वद्वर जयचन्द्र सुधी ने लिखकर भाषा में भावार्थ—
आत्मख्याति कृति पुनः सरल कर भव्यजनों को किया कृतार्थ ।
प्रिय ! इन सब पर आधारित यह समयसार वैभव परमार्थ —
जैसा कुछ बन सका गूंथकर प्रस्तावित है लोक हितार्थ ।

(३)

इस नवीन कृति का निमित्त बन स्याद्वाद नय कर अभिराम ।
वस्तु तत्व का कियाविवेचन अनेकांत मय 'नाथूराम'
गुरु सिद्धांत शास्त्रि विद्वद्वर जगमोहन ने प्रथम महान —
तद्गुरू स्याद्वाद वारिधि श्री वंशीधर ने पुनः प्रमाण —

(४)

नय सुदृष्टि से परिशीलन कर बृहत् साधु श्रम किया प्रवीण !
तदनंतर यह कृति प्रामाणिक बन मुद्रित है सार्वजनीन ।
यदि त्रुटियां हों सुधी सुधारें, अल्पज्ञों से हों बहु भूल ।
शब्द अर्थ, पद, मात्रा या फिर भाव समझने में अनुकूल ।

श्री दि० जैन मारवाड़ी मंदिर
शक्कर बाजार, इन्दौर
५-८-७०

विनीत
नाथूराम डोंगरीय जैन
(न्यायतीर्थ)